॥ ओ३म् ॥

—: कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम् :—

...त्मा कर्मवीर साधक स्मृति ग्रन्थ

प्रार्थना विज्ञान



लेखक :

यशपाल आर्यबन्धु

प्रकाशक :

आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी

मुरादाबाद

प्रथम संस्करण   अक्तूबर १६८०

॥ ओ३म् ॥

❀ गायत्री मंत्र ❀

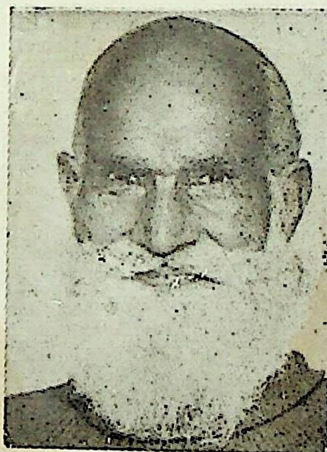
ओम् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

तूने हमें उत्पन्न किया पालन कर रहा है तू ।
तुझसे ही पाते प्राण हम दुखियों के कष्ट हरता है तू ॥
तेरा महान तेज है छाया हुआ सभी स्थान ।
सृष्टि की वस्तु-वस्तु में तू हो रहा है विद्यमान ॥
तेरा ही धरते ध्यान हम माँगते तेरी दया ।
ईश्वर हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चला ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

सबका भला करो भगवान, सब पर दया करो भगवान ॥
सब पर कृपा करो भगवान, सबका सब विधि हो कल्याण ॥

तुम क्या गये कि बज़्मे तमन्ना ही उठ गयी।
तुम क्या गये कि सारे सहारे चले गये॥



(महात्मा कर्मवीर जी साधक वानप्रस्थी)

—: समर्पण :—

जिनकी पवित्र प्रेरणा से प्रार्थना विज्ञान लिखा जा सका उन्हीं पितृवर्य पूज्यपाद महात्मा कर्मवीर जी साधक की पावन स्मृति में सादर समर्पित।

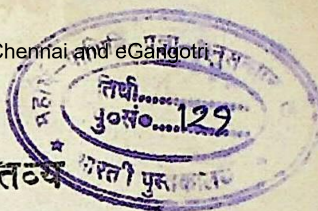
न हाथ पकड़ सके न थाम सके दामन ।

बड़े करीब से उठकर चला गया कोई ।।



(धर्मपरायणा श्रीमती राज सलूजा)

जिनके दुःखद देहावसान पर उनके पति दानवीर श्रीयुत वेदप्रकाश सलूजा ने ५००० रुपये का सात्विक दान विभिन्न आर्य संस्थाओं को प्रदान किया । श्रीमती राज सलूजा आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी की एक प्रतिष्ठित सदस्या थीं । वे सरल स्वभाव की कुलीन आर्य नारी थीं । उनके मार्मिक विछोह से सभी आर्यगण दुःखी हैं ।



ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

अमर बलिदानी पण्डित लेखराम आर्य-मुसाफिर की यह अन्तिम अभिलाषा थी कि आर्य समाज से लेख का काम चालू रहना चाहिये। शहीद की इसी अन्तिम अभिलाषा के अनुसार आर्य समाज रेलवे हरथला कालोनी, मुरादाबाद प्रतिवर्ष अपने वार्षिकोत्सव पर एक साहित्य सुमन आर्य जगत को समर्पित करता आया है। उसी परम्परा के अनुसार अपनी स्थापना के तीसवें वर्ष में आयोजित वार्षिकोत्सव पर आर्यसमाज के गौरव श्रीयुत यशपाल आर्यबंधु का यह बारहवां पुष्प 'प्रार्थना विज्ञान' आर्य जगत को भेंट कर रहें हैं।

श्री साधक जी की पावन स्मृति में :—

यह ग्रंथ महात्मा कर्मवीर जी साधक वानप्रस्थी (श्री यशपाल आर्यबंधु के पूज्य पिता जी) की पावन स्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है। श्री साधक जी एक तपोनिष्ठ सच्चे आर्य पुरुष थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही साधनामय रहा है। आर्यसमाज हरथला कालोनी के तो वे प्राण थे। उनके कारण ही आर्यसमाज में निर्माण कार्य सम्भव हो सका। आर्यसमाज मन्दिर में प्रातःकालीन सत्संग तथा गांधी पार्क में सायंकालीन सत्संग उन्ही की देन हैं, जोकि अब भी नियमित रूप से चल रहे हैं। वैसे तो श्री साधक जी का सम्पूर्ण जीवन ही कर्मशील रहा है किन्तु सन् १९७५ ई० में आर्यसमाज हरथला कालोनी की रजत जयन्ती के अवसर पर सुश्री प्रज्ञा देवी के

पुरोहित्य में पूज्य स्वामी ओमानन्द जी से विधिवत् वानप्रस्थ में दीक्षित होकर आर्यसमाज की प्राणपन से सेवा करने लग उनकी कर्मण्यता को देखकर ही श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी ने नाम के साथ कर्मवीर और जोड़कर श्री महात्मा कर्मवीर नाम दिया था। वस्तुत: वे कर्मवीर ही थे। अपने जीवन के अ क्षणों तक वे सतत् कर्मशील रहे। दुर्भाग्य से कर्मशील यह व्य ३० मार्च सन् १९७९ को हम लोगों से सदा के लिए जु गया। उस महान व्यक्तित्व की पावन स्मृति में उन्हीं के सुपुत्र रचित प्रस्तुत पुस्तक सुधि पाठकों को सादर समर्पित कर अपार प्रसन्नता हो रही है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशनार्थ यशपाल आर्यबंधु तथा उनके परिवार की ओर से एक हजार प्राप्त हुये हैं। धन्यवाद ! इससे पूर्व भी श्री साधक जी की स्मृ उनके परिवार की ओर से चारों वेदों का एक सैट आर्यसमाज भेंट किया गया था।

इस पुस्तक के लेखन, प्रकाशन, मुद्रण आदि में तथा वि के रूप में सहायता करने वाले सभी उदार महानुभावों के कृतज्ञ हैं।

विनीत :—

महावीर सिंह

मंत्री, आर्य समाज रेलवे हरथला का

मुरादाबाद।

ओ३म्

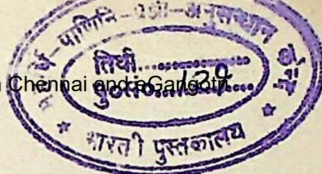
प्रस्तावना

ईश्वर की प्रार्थना प्रत्येक देश, जाति अथवा सम्प्रदाय में किसी न किसी रूप में की ही जाती है। व्यक्तिगत रूप में अथवा सामूहिक रूप में घरों में, मन्दिरों में, आश्रमों में, वनों, पर्वतों तथा कन्दराओं आदि में प्रार्थना प्रायः होती रहती हैं। किन्तु प्रार्थना की प्रचलित पद्धतियों, प्रणालियों एवं तत्सम्बन्धी परस्पर विरोधी विचारधाराओं ने आस्तिकों में भेदभाव की अति घिनौनी दीवारें खड़ी कर दी हैं। परिणाम-स्वरूप आज नास्तिकता द्रुतगति से फैल रही है। वस्तुतः आज प्रार्थना के सम्बन्ध में जितनी भ्रांतियां हैं उतनी किसी अन्य विषय में नहीं। इन्हीं भ्रांतियों के निवारणार्थ इस पुस्तक के माध्यम से हमने प्रार्थना सम्बन्धी क्या? क्यों? कैसे? कब? कहां? और किस से? आदि विभिन्न शंकायें उठाकर उनका वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

महात्मा नारायण स्वामी की भांति लेखक भी प्रार्थना को एक विज्ञान ही मानता है। इसीलिये प्रस्तुत पुस्तक का नाम भी 'प्रार्थना विज्ञान' रखा है। लेखक की मान्यता है कि कोई भी विषय स्वयं में न तो विज्ञान होता है और न कला ही। उसकी अध्ययन पद्धतियां ही इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि वह विषय विज्ञान के क्षेत्र में आता है या कला के। गिलिन का निम्न कथन लेखक के मत की पुष्टि करता है— 'The true sign of Science is a certain type of approach towards the field, which

we wish to investigate" वैसे "Science consists in knowing and Art consists in doing" इस उक्ति के अनुसार 'क्या' और 'क्यों' का उत्तर विज्ञान देता है और 'कैसे' का उत्तर कला दिया करती है। किन्तु अब कला का यह कार्य भी विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष (Applied Science) ही करने लगा है। आज विज्ञान की जो परिभाषा दी जाती है, उसके अनुसार विज्ञान, ज्ञान की उस शाखा को कहते हैं कि जिसमें किसी विषय विशेष का एक पद्धति विशेष से नियमबद्ध एवं क्रमबद्ध यथार्थ अध्ययन करने का प्रयत्न किया जाता है। अध्ययन की इस पद्धति को वैज्ञनिक पद्धति कहते हैं। वैज्ञानिक पद्धति मूलरूप से अन्य पद्धतियों से भिन्न हुआ करती है। यह पद्धति यथासम्भव 'क्या' 'क्यों' तथा 'कैसे' आदि शंकाओं को विकसित एवं प्रोत्साहित करके उनका श्रेष्ठतम प्रमाणों से पुष्ट युक्तियुक्त सत्य समाधान प्रस्तुत करती है। यही इस पद्धति की विशेषता है। हमने भी प्रस्तुत अध्ययन में इसी वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने का प्रयास किया है। हमारी इच्छा है कि नास्तिकता की ओर बढ़ रहा नवयुवक समुदाय पुनः आस्तिकता की ओर उन्मुख हो सके। यदि हमारा प्रस्तुत अध्ययन किसी एक भी नास्तिक मन में आस्तिकता के सच्चे भाव जगा सका अथवा किसी भी आस्तिक मन में प्रार्थना का यथार्थ स्वरूप दर्शा सका तो लेखक अपने श्रम को सार्थक समझेगा।

आर्य निवास — प्रार्थना विज्ञान का एक विनम्र अध्येयता
चन्द्र नगर — यशपाल आर्य बन्धु
मुरादाबाद



ओ३म्

प्रार्थना विज्ञान

प्रार्थना क्या है ?

'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अर्थ' धातु से प्रार्थना शब्द सिद्ध होता है, ऐसा वैयाकरणों का मत है। 'प्र' का अर्थ है--प्रकर्षेण अर्थात् तेजी से, विशेष उत्कण्ठा से, तीव्रता से और 'अर्थना' का अर्थ है चाहना। कोई-कोई इसका अर्थ मांगना कर दिया करते हैं, किन्तु विचार-पूर्वक देखा जाय तो 'चाहना' ही प्रार्थना का यथार्थ प्रयोजन है। याचना में इच्छा शक्ति अथवा संकल्पबल का पूर्ण सदुपयोग नहीं हो पाता। याचक को केवल अपनी याचना अथवा मांग प्रस्तुत करने के अतिरिक्त और कुछ करना नहीं होता। परन्तु चाहने में जहां प्रभु से सहायता की इच्छा की जाती है, वहां स्वयं भी पूर्ण पुरुषार्थ करना पड़ता है। साथ ही याचना में जहां मन में हीन भाव उत्पन्न होते हैं वहां चाहने में आत्म-गौरव, आत्मतोष तथा आत्मविश्वास जैसी भावनायें जागृत होने लगती हैं। कविवर रहीम ठीक ही कहते हैं—

"रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात"

अर्थात् मांगने से बड़ा व्यक्ति भी छोटा हो जाता है। महात्मा गांधी ने प्रार्थना को याचना के अर्थ में कभी नहीं स्वीकारा। उनका कथन है—"प्रार्थना करना याचना करना नहीं। वह तो आत्मा की पुकार है।" वैसे प्रार्थना का अर्थ भी "प्रकृष्ट अर्थ" अर्थात् उत्कृष्ट प्रयोजन है। ओर उत्कृष्ट प्रयोजन के लिये पुरुषार्थ सदैव अपेक्षित

हुआ ही करता है। पं० चमूपति ठीक ही लिखते हैं कि "उपासकों की परिभाषा में प्रार्थना और प्रतिज्ञा पर्याय हैं। हाथ पसारे हैं तो हाथ हिलाने भी स्वयं होंगे।" (संध्या रहस्य, पृष्ठ ७५) इसी प्रकार पं० लेखराम आर्य मुसाफिर भी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'कुलियात आर्य मुसाफिर' में लिखते हैं कि "सच्ची प्रार्थना को संकल्प कहते हैं और संकल्प शुभ गुणों को धारण करने की इच्छा को कहते हैं।" महर्षि दयानन्द सरस्वती आर्योद्देश्य रत्नमाला में प्रार्थना की परिभाषा निम्न शब्दों में देते हैं—"अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को प्रार्थना कहते हैं।" वस्तुतः प्रार्थना अपने हृदय के भावों को प्रभु के सम्मुख रखने की अध्यात्म प्रणाली का ही दूसरा नाम है कि जिसमें प्रार्थी प्रभु से वल की प्रार्थना करता है। श्री नित्यानन्द पटेल के अनुसार—"व्याकुलता भरे अन्तःकरण से जो पवित्र पुकारें उठती हैं, उन्हें ही प्रार्थना कहते हैं।" (प्रार्थना दीप, पृष्ठ १७)

प्रार्थना कर्म का प्रतीक है। कर्म के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है यह सत्य है किन्तु ज्ञान भी कर्म के विना भार ही होता हैं यथा—ज्ञानं भारः क्रियां विना" (हितोपदेश) और "हतं ज्ञानं क्रियाहीनं" अतः ज्ञान और कर्म के विना प्रार्थना सिद्ध नहीं होती। ज्ञान और कर्म रूपी पंखों के सहारे ही प्रार्थी जीवन की लम्बी ऊड़ान भरता है।

प्रार्थना मनोविज्ञान की दृष्टि में—

मनोविज्ञान की दृष्टि में प्रार्थना का अपना विशेष महत्व है। संसार भर के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने प्रार्थना को जीवन सम्बन्धी सर्वोच्च चिन्तन माना हें। मनोविज्ञान प्रार्थना को मनुष्य की

जन्मजात सहज प्रवृत्ति मानता है। हम देखते हैं कि जब कभी भी किसी व्यक्ति पर कोई आपत्ति आ पड़ती हैं, जिसका कि सामना करने में वह स्वयं को असमर्थ पाता है तो अनायास ही वह सहायता के लिये पुकार उठता है। सहायता के लिये वह पुकार ही तो प्रार्थना है। डा० राम चरण महेन्द्र के अनुसार "मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रार्थना एक प्रकार का आत्मसंकेत (Auto suggestion) है। हमारे जीवन में संकेत या सूचनायें ही हमें आगे वढ़ाती हैं। हम चुपचाप अपने को जैसा कहते या मानते जाते हैं, वैसे ही निरन्तर ही वनते जाते हैं। हमारी प्रार्थनायें भी एक प्रकार की सूचनायें या संकेत ही हैं। हमारी अपनी ही भावनायें हमारे मुख से निकलकर हमारे गुप्त मन का निर्माण करती हैं।"

(देखें—कल्याण प्रार्थनांक, पृष्ठ ३८३)

जैसा कि प्रार्थना शब्द के अर्थ से भी प्रकट होता है कि प्रार्थना तीव्र संवेगों को उत्पन्न करती है। वर्डस्वर्थ ने संवेगों को मनुष्य की उत्तेजित अवस्था माना है और वैलेनटाईन महोदय का कथन है कि जब हमारी भावनायें उत्तेजित हो उठती हैं तो संवेग उत्पन्न होते हैं। यथा—When feelings become intense we have emotions. यही संवेग हमारे शरीर, मन तथा संकल्पों को प्रभावित किया करते हैं। इनकी उपस्थिति मानव की शारीरिक तथा मानसिक दशा में एक अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर देती है जिससे उसकी प्रसुप्त इच्छा शक्ति जागृत हो उठती हैं। और इच्छा शक्ति क्या है ? श्रीयुत एंजिल के शब्दों में इसका उत्तर यह है कि The whole mind is active, this is the will', अर्थात सम्पूर्ण अन्तःकरण क्रियाशील हो—यही संकल्पवल या इच्छाशक्ति है। मैग्डूल महोदय क्रियाशील चरित्र को ही इच्छाशक्ति की

मान्यता देते हैं। यथा—The will is character in action. कोई-कोई क्रियाशील, इच्छाशक्ति को चरित्र की संज्ञा देते हैं। यथा—The character is will in action

प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप दर्शाते हुये महात्मा नारायण स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रार्थना का वैदिक विचार इतने महत्व का हैं कि उसे शिक्षित समुदाय विना किसी संकोच के अपना सकता है। उसका वैज्ञानिक समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि मनुष्य की इच्छाशक्ति उसके अन्तःकरण की एक वृत्ति है। यह अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण के अनुकूल काम करने से पुष्ट हुआ करती है - प्रार्थना विज्ञान वतलाता है कि प्रार्थना अन्तःकरण के अनुकूल काम है। अतः स्पष्ट है कि प्रार्थना से इच्छाशक्ति का विकास और पुष्टि हुआ करती है और इच्छाशक्ति के विकास से मनुष्य की इच्छा पूरी हुआ करती है।" (पाप-पुण्य, पृष्ठ १७) अन्तःकरण तथा उसके कार्यों का विश्लेषण करते हुये महात्मा नारायण स्वामी जी एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि "जव प्रत्येक अन्तःकरण का काम ठीक चलता है तव इच्छाशक्ति के काम में वाधा न पड़ने से शक्ति का विकास और वृद्धि होती है।" (वेद रहस्य, पृष्ठ ८६) इतना ही नहीं महात्मा जी तो अन्तःकरण के अनुकूल कार्य करना ही प्रार्थना का उद्देश्य मानते हैं। उनका कथन है कि "जव हृदय से प्रार्थना होगी तो हृदय का उससे विरोध नहीं होगा। जव हृदय स्वयं प्रार्थना करेगा तो इच्छाशक्ति वलवान हो उठेगी।" (अमृतवर्षा, पृष्ठ ११४) तात्पर्य यह कि प्रार्थना से संवेग उत्पन्न होते हैं एवं संवेगों से इच्छाशक्ति उद्दीप्त हो उठती है और इच्छाशक्ति हमारे शरीर, मन तथा आत्मा को उन्नत वनाती है। यही प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक महत्व है।

इच्छाशक्ति का इतना महत्व क्यों?

जैसा कि पूर्व लिख आये हैं कि जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही वनता चला जाता है। कहा भी है—As a man thinketh so he becometh. मार्डन का कथन है—A man can renew his body by renewing his thoughts. अर्थात् मनुष्य अपने विचारों के नवीनीकरण से अपने शरीर का नवीनीकरण कर सकता है। हम चाहें तो अपने विचारों में परिवर्तन ला कर अपने चरित्र को ही नहीं जीवन की दिशा को भी नया मोड़ दे सकते हैं। वस्तुतः यह जाने विना ही कि हम अच्छे वन रहे हैं या बुरे, किन्तु यह सत्य है कि अपने विचारों की शृंखला से ही अपने भविष्य का निर्माण करते जाते हैं। सत्य है—

We build our future thought by thought,
Or good or bad and know it not.

प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य अपनी चिन्तन-धारा को एक नया मोड़ देना है।

Purpose of prayer is to change our thinking.

वेद शिवसंकल्पों को धारण करने का उपदेश देता है और प्रार्थना शिवसंकल्पों को धारण करने का ही नाम है। शिवसंकल्प मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं। संकल्पबल अथवा इच्छाशक्ति मनुष्य के हृदय में आत्मविश्वास को जागृत करती है और आत्म विश्वास में जीवन की सफलता निहित है। इमर्सन ने ठीक ही कहा है—
Self trust is the first secret of success.

इच्छाशक्ति हमारे स्वास्थ्य को किस प्रकार प्रभावित करती है यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। हम देखते हैं कि एक

श्रमिक भी श्रम करता है एवं एक पहलवान भी। किन्तु दोनों के अपने-अपने श्रम का परिणाम सर्वथा भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है। शारीरिक श्रम का प्रभाव एक पहलवान पर शारीरिक संगठन तथा शक्ति के रूप में होता है जबकि वही एक श्रमिक पर शारीरिक दुर्बलता, क्लांति एवं थकान के रूप में। जानते हैं यह अन्तर क्यों है ? इसीलिये कि पहलवान जब श्रम करता है तो अपने संकल्पबल अथवा इच्छाशक्ति का पूर्ण उपयोग करता है जबकि श्रमिक मजबूरी में वैसा करता है। उसे संकल्पबल अथवा इच्छाशक्ति से कोई सरोकार नहीं। इच्छाशक्ति के महत्व को देखते हुए ही चरक ऋषि ने अपने को आशीर्वादों से युक्त करने की बात अष्टम अध्याय में कही है। संध्या-हवन आदि में अंगस्पर्श की क्रियाओं के पीछे भी तो यही भाव कार्य कर रहे हैं। नोबल पुरस्कार विजेता डा० एलेक्सिस केरल तथा प्रार्थना मानव चार्ल्स फिलमोर आदि इन्हीं आशीर्वादों के मनोवैज्ञानिक प्रयोग से अनेकों रोगियों का उपचार कर चुके हैं। "संकल्पमयोऽयं पुरुषः" के अनुसार मनुष्य अपने संकल्पों का ही तो प्रतिरूप है अतः संकल्पों द्वारा रोगों की निवृत्ति तथा उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं। "प्रार्थना की शक्ति" शीर्षक से अमेरिका की पत्रिका **Journal of American Medical Association,** के जनवरी सन १९५८ के अंक में प्रकाशित एक लेख में यह बताया गया था कि इंगलैंड की राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा-समिति ने प्रार्थना मनोविज्ञान के महत्व को समझते हुए चिकित्सा सम्बन्धी नई नीति अपनाई थी। उसके अनुसार डाक्टरों की परिषद् में प्रार्थनाविद् पादरी एवं पादरियों की सभा में डाक्टर मिलकर रोग-निवारण सम्बन्धी विषयों पर विचार करते हैं। स्मरण रहे कि भारतीय चिकित्सा पद्धति का तो आधार ही यही है।

यद्यपि प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक महत्व दर्शा चुकने के पश्चात् अब इस प्रश्न का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता, तथापि इस विषय में कोई शंका न रह जाये, इसलिये इस पर विचार करना उचित समझते हैं। जैसा कि प्रार्थना की परिभाषा देते हुए हम लिख आये हैं कि अपने पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर की सहाय की इच्छा करना ही प्रार्थना का उद्देश्य है। मानव अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला है। उसके कार्यों में भूल तथा त्रुटि सम्भव है। अतः ईश्वर से बुद्धि तथा शक्ति की याचना करना तथा तदनुरूप अपना पुरुषार्थ करना आवश्यक होता है। मनुष्य चाहे कितना ही कुशल तथा चतुर क्यों न हो ईश्वर की सहायता के बिना अपने कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित नहीं कर सकता। "यस्मादृते न सिद्धयति यज्ञो विपश्चितश्चन।" इसके अतिरिक्त एक बात और है जिसकी ओर महर्षि दयानन्द ने संकेत किया है। वह है "प्रार्थना से अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना।" (आर्योद्देश्य रत्न-माला) इस पर कोई सज्जन यह तर्क दे सकते हैं कि केवल अभिमान का नाश तो कोई ऐसी बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं कि जिसके लिये दिन रात प्रार्थना में रत रहा जाये। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो हम पायेंगे कि अहंकार–अभिमान से बढ़कर हमारा कोई दूसरा शत्रु नहीं। अभिमान एक ऐसी बुराई है कि जिसकी समता में अन्य किसी बुराई को नहीं रखा जा सकता। संसार की प्रायः प्रत्येक बुराई, बुराई से उत्पन्न होती है किन्तु अभिमान एक ऐसी बुराई है जो सदैव अच्छाई से उत्पन्न होती देखी गयी है और इसीलिये यह अन्य सभी बुराइयों से अधिक हानिकारक भी है। उदाहरण के लिये विद्वान् होना अच्छी बात है, किन्तु विद्या भी

कभी-कभी अहंकार–अभिमान को उत्पन्न कर दिया करती है। जबकि विद्वान् के लिये विनयशील होना एक आवश्यक गुण है। इसी प्रकार बलवान, धनवान तथा सुन्दर होना अच्छा माना जाता है किन्तु क्या अधिक बल, धन तथा रूप मनुष्य को उन्मत्त नहीं बना देते ? और तो और स्वयं प्रार्थना भी कि जिसका फल अभिमान का नाश है। कभी-कभी प्रार्थना-परायण व्यक्ति के हृदय में अभिमान के भाव उत्पन्न कर देती है और वह यह सोचने लग जाता है कि मेरे जैसा प्रार्थना-परायण कोई अन्य संसार में है ही नहीं। अहंकार मनुष्य का भयंकरतम शत्रु है। इसीलिये कहा जाता है कि "घमण्ड का सिर नीचा" (Pride hath a fall) सत्य तो यह है कि स्वल्प सामर्थ्य वाले जीव के लिये अभिमान का क्या काम ? क्षणभंगुर जीवन में बीच मंझधार में पड़ी नौका में छिद्र के सदृश अभिमान हमारा बहुत बड़ा अनिष्ट कर सकता है। तभी तो अघमर्षण मन्त्रों में अभिमान के नाश की प्रार्थना करने का विधान महर्षि दयानन्द ने रखा है। हमें प्रार्थना इसलिये करनी चाहिये ताकि हमारे कर्म सही दिशा में तथा सफलता को प्राप्त करें। साथ ही उन उत्तम कर्मों के करने पर हमारे चित्त पर अहंकार-अभिमान की कुत्सित भावनायें न जमने पायें।

विपत्ति में प्रार्थना का सहारा--

जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, प्रार्थना मनुष्य की जन्मजात सहज प्रवृत्ति है। जब कभी भी हम किसी महान् विपत्ति में घिर जाते हैं तो बिना सोचे-समझे सहायता के लिये पुकार उठते हैं। उस समय किसी के द्वारा जरा सी सहायता अथवा सान्त्वना सहानुभूति हमारा मनोबल बढ़ा देती है और हम उस विपत्ति का साहसपूर्वक सामना करने में सक्षम हो जाते हैं। आपत्ति काल में

प्रार्थना हमारा मनोबल बढ़ा देती है। प्रार्थना के सहारे से सम्मुख आई विपत्ति का सामना करने में हम सफल हो जाते हैं। प्रार्थना हमें पुरुषार्थ करने को प्रोत्साहित करती है। प्रार्थना का तात्पर्य ही उद्योग अथवा उपाय करना है न कि हाथ पर हाथ धर पुकारें लगाना अथवा सिर पकड़ कर रोने बैठ जाना। प्रार्थना द्वारा ईश्वर से विपत्ति का सामना करने की सामर्थ्य की इच्छा करना एवं बुद्धि की याचना करना कोई अनुचित बात नहीं कि जिसमें व्यक्ति शर्म अथवा लज्जा अनुभव करे। व्यक्ति साहस तथा पुरुषार्थ से विपत्ति को भगा सकता है। किन्तु यदि पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप विपत्ति दूर न भी हो तो भी प्रार्थना हमारे भीतर ऐसे अनुपम आत्मबल का संचार कर देती है कि जिससे भारी से भारी विपत्ति को मनुष्य हंसते-हंसते सहन कर जाता है। सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास में महर्षि लिखते हैं कि "जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख होने पर भी न घबरायेगा और सब को सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है ?" संट पीडरो का भी कथन है कि 'यदि तुम जीवन के सब संकटों और मुसीबतों को धैर्यपूर्वक सहन किया चाहते हो तो प्रार्थना करने वाला बनो।' प्रार्थना दुःखी हृदय के लिये अमृत-धारा तुल्य है। हृदय के घाव प्रार्थना से जितनी शीघ्रता से भरते हैं उतने किसी अन्य वस्तु से नहीं। इसीलिये प्रार्थना को चमत्कारी मरहम (Wonderful healing Balm) कहा गया है। कष्ट के क्षणों में जब हम अपनी समस्यायें लेकर प्रभु के निकट जाते हैं तब

प्रार्थना के द्वारा हमारी आत्मा में उत्साह, समस्याओं को सुलझाने की सूझ, कष्टों को सहन करने की अपार शक्ति तथा ईश्वर का सहारा प्राप्त होता है। सत्य तो यह हैं कि ईश्वर हमारी सभी समस्याओं का एकमात्र समाधान है। प्रार्थना हमारे मन के बोझ को हलका करती है और अन्त:करण को शुद्ध एवं सशक्त बनाती है। वाल्टर जर्मेन ठीक ही कहते हैं—"The effect of prayer is to remove the load of troublesome feeling and attitude from the subconscious mind." (Motherland 12 June 72)

सच्ची किन्तु पुरुषार्थ-पूर्ण प्रार्थना से हमारी सभी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं क्योंकि इसके द्वारा हमारा प्रसुप्त आत्मबल जाग उठता है और हमारे अन्त:करण में एक अपूर्व आत्मिक तरंग सी जाग उठती है मानों एक अपूर्व दिव्य कवच हमारे हाथ लग गया हो। उस दिव्य तरंग से हमारी चिन्तायें, व्याकुलतायें तथा कष्ट आदि दूर हो जाते हैं। वस्तुत: प्रार्थना में ऐसी अद्भुत शक्ति है जो तर्क का नहीं अनुभव का विषय है।

प्रार्थना क्यों करें ? इसके उत्तर में हमें यह भी कहना है कि जीव का यह स्वभाव है कि वह सर्वदु:खों से छूटना चाहता हैं। दु:ख तीन प्रकार के हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक। आध्यात्मिक और आधिभौतिक दु:खों की निवृत्ति का उपाय उद्योग एवं पुरुषार्थ में निहित हैं किन्तु आधिदैविक दु:ख जो प्राकृतिक विप्लवों के रूप में आते हैं, उनकी निवृत्ति का उद्योग ईश्वर प्रार्थना ही है। इस सम्बन्ध में वैदिक सम्पत्ति के सुयोग्य लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा का कथन सर्वथा यथार्थ है कि "वैद्यक और यज्ञों के द्वारा व्यक्तिगत व्याधि

और समाजगत चेपी रोगों की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विप्लवों से भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि पाला, पत्थर और वज्रपात आदि से रक्षा नहीं हो सकती। इन उत्पातों से रक्षा करने वाला परमात्मा ही है। इसलिये ऐसे समयों में प्रार्थना करने का ही वेद में उपदेश है।" (वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ५२७) प्रार्थना का तात्पर्य उपाय एवम् उद्योग है किन्तु आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति में प्रार्थना ही उपाय एवं उद्योग बन जाता है।

आत्मिक उन्नति का अमोघ साधन—

प्रार्थना इसलिये भी की जाने योग्य है कि वह आत्मिकोन्नति का एक सर्वोत्तम साधन है। जीव के लिये सर्वोंच्च आदर्श परमात्मा है। उसी के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुरूप मनुष्य अपना सुधार कर उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है। डा० रामचरण महेन्द्र ठीक ही लिखते हैं—"प्रार्थना हमारे विवेक को बल देकर हमें ईश्वरत्व के पास लाती है और हमारी समस्त दुष्प्रवृत्तियों को दबा देती है। प्रार्थना हमारे कुविचारों और कुसंस्कारों का आवरण हटाकर मल-पदार्थों को दूरकर महानता की स्थिति में ले जाती है। विधिपूर्वक प्रार्थना करते रहने पर मनुष्य की पवित्रता, महानता और उत्कृष्टता निरन्तर बढ़ती रहती है। यह आध्यात्मिक उन्नति धीरे-धीरे हमें स्वास्थ्य, सुख-शान्ति और संतुलन की ओर ले जाती है।" (कल्याण प्रार्थनांक) इसी प्रकार पं० नित्यानन्द विद्यालंकार के अनुसार "आत्म-शुद्धि का इससे अधिक प्रबल अस्त्र दुनिय ने अभी तक नहीं जाना।" और विश्वबन्द्य बापू के शब्दों में "प्रार्थना का मनुष्य के पार्थिव जीवन में असीम महत्व है। हमारे दैनिक कार्यों में व्यवस्था, शान्ति और संवादिता लाने का एकमात्र उपाय प्रार्थना है।" वस्तुतः प्रार्थना एक अपूर्व डायरी के सदृश है जिसके

द्वारा मनुष्य नित्य अपने जीवन की पड़ताल कर लेता है। इसमें वह यह देखने का प्रयत्न करता रहता है कि कहीं मेरे भीतर पाशविक प्रवृत्तियाँ तो नहीं पनप रहीं। पाप से बचने तथा पापमय जीवन से उबरने के लिये प्रार्थना एक दिव्य नौका है। अतैव प्रार्थना अवश्य की जाने योग्य है। अपने योग-क्षेम के लिये प्राचीन आर्यगण प्रार्थना को अनिवार्य समझते थे। यह उच्चतम परम्परा आर्य सन्तान में आज तक प्रचलित है।

प्रार्थना किससे करें ?

सामान्यतः यह अति साधारण एवं निरर्थक सा प्रश्न प्रतीत होती है। किन्तु यदि हम थोड़ी गहराई में उतरकर विचारेंगे तो हमें इसकी सार्थकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगी। हम प्रायः बातें तो ऐसी करते हैं जैसे हमसे बढ़कर ईश्वरविश्वासी अन्य कोई है ही नहीं किन्तु कार्य ऐसे-ऐसे करते हैं जिनसे यही परिलक्षित होता है कि जैसे हमारी दृष्टि में ईश्वर का कोई अस्तित्व ही न हो। तभी तो पीर, फकीर, मसान, मढ़ी कब्र, समाधि, पेड़, पत्थर, नदी, तालाब आदि ऐसी कोई भी तो वस्तु नहीं बची जहां प्रार्थना में मानव मस्तक झुके दिखाई न देते हों। किन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्य किसको माने किसको नहीं ? सत्य है—

"कौन सी दहलीज पे खम अपनी पेशानी करे,
आदमी कितने खुदाओं की निगहबानी करे।"

इसीलिये किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि—

"छोड़ सबकी दोस्ती कर दोस्तदारी एक से,
एक का हो यार निभ जायेगी यारी एक से।"

फिर अल्प शक्ति वाले पीर फकीर मनुष्य की आवश्यकतायें पूरी भी कहां कर पाते है। तभी महाकवि मीर ने कहा था—

"मीर वन्दे से कव काम निकला,
माँगना है जो कुछ खुदा से मांग ।"

कविवर अकवर इलाहावादी तो और भी वढ़िया वात कहते हैं कि मनुष्यों से मांगने से मानव की इज्जत-आवरू में वट्टा लगा करता है किन्तु प्रभु के दरवार से मांगने में इज्जत आवरू नहीं जाती ।

"खुदा से मांग जो मांगना है ए अकव्र !
यह वह दर है जहां आवरू नहीं जाती ।"

महर्षि दयानन्द आर्याभिविनय में लिखते हैं कि—

"हे सर्वव्यापक ! अनन्त पराक्रमेश्वर विष्णो ! आप हमको अनन्त सुख देओ । जो कुछ मांगेंगे सो आप से ही हम लोग मांगेंगे । सव सुखों को देने वाला आपके विना कोई नहीं है । सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है अन्य किसी का नहीं क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयामय सव से वड़े पिता को छोड़कर नीच का आश्रय हम लोग नहीं करेंगे ।" ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ईश्वर स्तुति विषय में महर्षि और भी स्पष्ट शव्दों में लिखते हैं कि "सब से उत्तम मोक्ष सुख से लेके अन्न-जल पर्यन्त सव पदार्थो की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर से ही करनी चाहिये ।" सत्य है कामधेनु को छोड़ कर वकरी दुहाने की कामना तो कोई मूर्ख ही करेगा । कविवर रहीम ठीक ही लिखते हैं—

"अमर बेलि विन मूल के प्रतिपालत है ताहि,
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि ढूंढत फिरिये काहि ।"

वेद तो उसे प्रसिद्ध दानी कह रहा है "भूरिदा ह्यसि श्रुत" (ऋ ४-३२-११) ऐसे प्रसिद्ध दानी को छोड़कर तुच्छ दानियों का सहारा लेना कोई बुद्धिमत्ता नहीं । महाकवि तुलसीदास का कथन है—

"दीन हौं, दयालु दानि दूसरो न कोऊ,

जासों हौं दीनता कहूँ, देखों दीन सोऊ।"

कहते हैं एक दिन कोई निर्धन व्यक्ति सम्राट अकबर के पास कुछ याचना लेकर गया। सम्राट उस समय नमाज अदा करने के पश्चात हाथ उठा कर दुआ कर रहे थे। उस याचक ने सम्राट को इस प्रकार हाथ उठा कर कुछ मांगते देखा तो बिना कुछ भी याचना किये लौट पड़ा। सम्राट नमाज अदा कर चुकने पर उसे रोकने लगा और बोला कि भाई! तुम तो कुछ याचना लेकर आये थे और फिर बिना कुछ माँगे ही कैसे लौट पड़े? याचक बोला कि जब अकबर जैसा सम्राट स्वयं परमपिता परमात्मा के आगे हाथ बाँधकर याचना करता हो तो फिर ऐसे व्यक्ति से क्या मांगना, जो स्वयं भिखारी हो वह दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे कर सकता है? हम उसी से क्यों न मांगे कि जिससे अकबर स्वयं मांगा करता है। सत्य है—

हैं जमाने के शहनशाह तेरे दर के गदा।

बेकस-ओ-बेवस का बेसहारे का सहारा तू है।

अकबर के दरबारी कवियों में एक कवि श्रीपति जी भी थे। वे बड़े प्रभु भक्त तथा निर्भीक कवि थे। अकबर की चाटुकारिता उनसे कभी भी नहीं बन पाई। इसीलिये अन्य कविगण उनसे ईर्ष्या करते थे। एक दिन उन लोगों ने एक चाल चली और निम्न समस्या पूर्ति हेतु दरबार में प्रस्तुत कर दी—"करो सब आस अकबर की।" वे सोचते थे कि इस समस्या की पूर्ति के माध्यम से श्रीपति को भी अकबर की चाटुकारिता करनी ही पड़ जायेगी। जब दरबार जुड़ा और सभी कवि समस्या पूर्ति में जुट गये और सम्राट की चाटुकारिता में एक दूसरे को मात देने लगे। चारों ओर से

वाह-वाह के स्वर गूँजने लगे। किन्तु जब कवि श्रीपति की बारी

आयी तो मानो एक ईश्वर—विश्वासी की कठिन परीक्षा की घड़ी उपस्थित हो गयी हो। मस्ती में झूमते हुये श्रीपति कविता पाठ करने लगे—

"एकहिं छाँड़ि के दूजौ भजे, सो जरै रसना अस लब्बर की।
अबकी दुनिया गुनिया जो बनी, वह बाँधती फैंट आडम्बर की।।
कवि श्रीपति आसरो ईशहिं को, हम फैंट गही बड़ जब्बर की।
जिनको प्रभु में है प्रतीति नहीं, सो करो सब आस अकब्बर की।।

पारखी सम्राट श्रीपति की सहज निर्भीकता पर प्रसन्न हुआ जबकि अन्य चाटुकार कवियों को लज्जित होना पड़ा।

सत्य है—

नीची रकीब से न हुई आँख उम्र भर।
झुकता मैं क्या जब आँख में तेरा जमाल था।।

प्रार्थना किस से करें? के उत्तर में एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह कि प्रार्थना उससे की जानी योग्य है कि जो हमारी पुकार सुनने में समर्थ हो। अन्यथा अरण्य-रोदन से क्या लाभ? तात्पर्य यह कि प्रार्थना उसी से करनी चाहिये जो हमारे मनोगत भावों को, अव्यक्त-बोलों को सहज में ही जान ले। अन्यथा गूंगे तुतले तथा मूढ़ जन उसे अपनी बात कैसे सुना सकेंगे। अर्थात वह शक्ति जिससे हम प्रार्थना करने जा रहे हैं, कोई सर्वान्तर्यामी सर्वगुण सम्पन्न होनी चाहिये। साथ ही यह भी कि उस तक हमारी पुकार अविलम्ब पहुँच भी सके। वरना "खाक हो जायेंगे हम तुमको खबर होने तक" की उक्ति कहीं चरितार्थ न हो जाये। और फिर पुकारने पर वह तुरन्त सहायता को पहुँचने में भी समर्थ हो। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी तथा सर्वशक्तिमान है। जो सभी

प्राणियों के हृदय में वास करता हो, उसको सहायता के लिये पहुँचने में क्या देर लग सकती है ? वह तो पूर्व से ही वहां विद्यमान है। इतने पास रहकर क्या वह हमारी पुकार नहीं सुन सकता ? और रहीम के शब्दों में सत्य तो यह है कि—

"जो रहीम तन मन दियो, कियो हृदय विच भौन।
ता सौं सुख-दुःख कहन की रही बात अब कौन ? और
प्रियतम को पतियां लिखूँ जो कोई होय परदेश।
तन में, मन में, नयन में ता को क्या सन्देश॥

अतः प्रार्थना उसी एक अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा दयालु परमात्मा से ही की जानी योग्य है कि जो घट-घट की, पट-पट की जानता है अन्य किसी से नहीं। हमें कुत्ते के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिये और वह यह कि—

जो कुत्ता दर-दर फिरे, दर-दर दुर-दुर होय।
एक दर का हो रहे, तो दुर-दुर करे न कोय॥

तभी कविवर प्रकाश ने गाया था कि—

मांगना है जो वही मांग लेगा तुम से प्रकाश।
वन के भिक्षुक पुकार द्वार द्वार कौन करे॥
डाल दी तेरे सहारे यह भंवर में नैया।
मूढ मांझी की विनय बार बार कौन करे॥

वही हमारा सच्चा मित्र, सखा, बन्धु, हितैषी, माता, पिता तथा परम सहायक है। हमें उसी की आस करनी चाहिए और उसी से प्रार्थना भी।

प्रार्थना कब करें ?

प्रायः यह पूछा जाता है कि प्रार्थना कब करें। क्या संध्या की भाँति प्रार्थना भी केवल प्रातः सायं दो बार ही करनी चाहिये

या जब चाहें तब कर लें ? अनुभव यह बतलाता है कि आत्मशुद्धि के लिये प्रातः-सायं प्रार्थना करना ठीक रहता है। प्रातः सायं सन्धिवेला का सुमधुर वातावरण मन को एकाग्र करने में बड़ा सहायक होता है और प्रार्थना के लिये मन की एकाग्रता का अपना विशेष ही महत्व है। अतः प्रातःकाल शक्ति एवं सायंकाल शान्ति के लिये प्रार्थना करना उचित है। फिर भी संध्या की भाँति दिन में केवल दो बार ही करने का प्रतिबन्ध प्रार्थना पर नहीं लगता। प्रार्थना चूंकि अपने उत्तम कर्मों में सहाय की इच्छा का नाम है एवं उत्तम कर्म कभी भी सम्पादित किये जा सकते हैं अतः प्रार्थना भी कभी भी की जा सकती है। वेद कहता है "योगे-योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवमहे। सखाय इन्द्रमूतये" (ऋ १-३०-७) अर्थात् प्रत्येक योग अथवा उद्योग में, प्रत्येक युद्ध अथवा स्पर्धा में, मित्र भाव से रहने वाले हम, अत्यन्त बलशाली प्रभु को अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। प्रार्थना परायण व्यक्ति तो इस विश्वास से कार्य को प्रारम्भ करते हैं कि—

"कारज के आरम्भ में ले जो तुमरो नाम।
सकल मनोरथ सिद्ध हों सफल हों सारे काम॥"

सत्य तो यह है कि मनुष्यत्व के निर्माण और समुचित विकास के लिए प्रार्थना मनुष्य के दैनिक कार्यों में ओत-प्रोत हो जानी चाहिये। प्रातः काल थोड़ा सा समय प्रार्थना में लगा देना और फिर शेष समय में अधर्म और असत्य का आचरण करते रहना क्या मनुष्यत्व का विकास कर सकेगा ? नहीं कदापि नहीं। हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि यदि सच्ची प्रार्थना जीवन का मार्ग है तो सच्चा धार्मिक जीवन भी प्रार्थना का ही मार्ग है।

प्रार्थना कब की जाये—उसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि जब आपका हृदय आतुर हो उठे वही प्रार्थना का सर्वोत्तम समय

है। फिर चाहे वह दिन हो या रात्रि, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। वैसे हमारा सम्पूर्ण जीवन ही प्रार्थनामय होना चाहिये। किन्तु जब तक ऐसा नहीं हो जाता, हमें प्रार्थना के लिए समय निश्चित्त कर लेना चाहिए। ऐसा कर लेने से एक तो प्रार्थना में व्यतिक्रम (नागा) की सम्भावनायें कम हो जाती हैं दूसरे जैसे भोजन का समय निश्चित होने से समय आने पर स्वाभाविक रूप से भूख जागृत हो उठती है। वैसे ही प्रार्थना का समय होने पर स्वभावतः प्रार्थना की वृत्ति जागृत हो उठती है। महात्मा गाँधी ने प्रारम्भ में प्रार्थना के लिये कोई समय निश्चित नहीं कर रखा था। सायंकाल के पश्चात उन्हे जब भी समय मिलता था वे प्रार्थना कर लिया करते थे। निश्चित समय न होने के कारण एक दिन व्यस्तता के कारण महात्मा जी प्रार्थना करना भूल गये। बस फिर क्या था पश्चाताप की अग्नि में बापू का हृदय जल उठा। इसी दुःख में उन्हें नींद भी नहीं आई। और वे सारी रात सूर का निम्न पद गुनगुनाते रहे —

"मो सम कौन कुटिल खल कामी,
जा तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नोन हरामी।"

दूसरे दिन गाँधी जी ने व्यवस्था दी कि आज से नित्य सायंकाल ७ बजे निश्चित समय पर प्रार्थना हुआ करेगी, चाहे हम जहां कहीं भी हों। उसके बाद उनके जीवन में वह दिन कभी भी नहीं आया कि जिस दिन उनकी प्रार्थना में व्यतिक्रम हुआ हो। और तो और लन्दन में गोलमेज सम्मेलन में भी उन्होंने अपने इस नियम में कोई ढील नहीं आने दी। प्रार्थना के लिये समय निश्चित होने से जहाँ व्यक्ति के जीवन में नियमितता आती है वहाँ यह समाज में भी एकरूपता लाने में सहायक सिद्ध हो सकती है। मुसलमानों की निश्चित समय पर नमाज उनकी जातीय एकता की परिचायक है। अतः हम यही कहेंगे कि हमें निश्चित समय पर प्रार्थना करनी चाहिये और यह समय प्रातः सायं दोनों समय निश्चित किया जाये तो और भी

अच्छा है। जब हम भोजन के लिये प्रातः सायं दो समय निश्चित करते हैं तो प्रार्थना के लिए भी दोनों समय निश्चित होने ही चाहियें। छावनियों में सैनिकगण प्रातः-सायं जो युद्ध का अभ्यास करते हैं, वह वस्तुतः युद्ध नहीं होता अपितु वह युद्ध लड़ने की सही विधि को हृदयंगम करने की प्रक्रिया होती है। जिस प्रकार युद्ध में विजय पाने के लिये पूर्वाभ्यास आवश्यक होता है ऐसे ही जीवन संग्राम में भी पूर्वाभ्यास की आवश्यकता होती है, जो कि प्रातः सायं की प्रार्थना द्वारा ही सम्भव है। अतः प्रातः-सायं निश्चित .. समय पर प्रार्थना करना जीवन संग्राम में विजय पाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि प्रार्थना युद्ध में कवच का काम करती है। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

Prayer is the girding on the armature for battle, the pilgrim's preparation for his journey.

हमें प्रार्थना समय पर करनी चाहिये, प्रातः सायं करनी चाहिए और इसके अतिरिक्त भी जब-जब प्रभु से सहाय की इच्छा मन में जगे, तब-तब प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये। स्मरण रहे—प्रार्थना में अति कभी भी नहीं होती।

प्रार्थना कहां करें ?

वैसे तो प्रार्थना के साथ स्थान का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि प्रार्थना में यह तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं कि किसी स्थान विशेष पर की गई प्रार्थना ही फलीभूत होती हो अन्य स्थानों की नहीं। फिर भी शुद्ध, पवित्र और एकान्त स्थान पर प्रार्थना करने में मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। प्रार्थना में वस्तुतः स्थान का उतना महत्व नहीं जितना कि मन की एकाग्रता का है। अतः जहां भी आपका मन प्रभु की प्रार्थना में तल्लीन हो सके, वही प्रार्थना के

लिये सर्वोत्तम स्थान है। जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, प्रत्येक उद्योग में प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये, तो फिर कार्य प्रारम्भ करते समय प्रभु से सहायता की याचना करने लिए अपने कार्य-स्थान को छोड़कर वन, पर्वत अथवा किसी मन्दिर आदि को दौड़ना व्यवहारिक नहीं। ऐसी स्थिति में तो हमारा कार्यस्थल ही प्रार्थना का उपयुक्त स्थान है। किन्तु आत्मोत्थान आदि के लिये की जाने वाली दैनिक प्रार्थना के लिए समय की भाँति स्थान भी निश्चित कर लेना उचित रहता है। और वह कोई शान्त कानन, नदी, तालाब, झरना आदि का किनारा इसलिए उपयुक्त रहता है कि वहां "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत" के अनुसार मन प्रभु की महिमा निहार कर उसकी ओर स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है। पं० प्रकाशवीर शास्त्री के अनुसार "आर्यावर्त्त देश आरम्भ से ही जंगलों के प्रति शान्त, एकान्त और निर्वाध स्थान होने से आकर्षित रहता आया है इसी कारण हमारी सभ्यता भी अरण्यक कहलाती है। जीवन के उन मूलभूत तत्वों को, जिन्हें अनुसन्धान का दावा भरने वाली पश्चिमी सभ्यता आज भी स्पर्श नहीं कर पाई है, इस देश के ऋषियों ने मानवीय उत्कर्ष से प्रेरित होकर नदियों, जंगलों और पर्वतों की कन्दराओं में बैठकर ही खोजा था। परन्तु समय के साथ वातावरण भी वदलता है, मनुष्य जबकि अपनी वृद्धि पर कोई रोक नहीं लगा रहा है और आशातीत विकास उसमें हो रहा है, फिर इतनी "अपां समीपे" वाली सुविधायें तो सबको मिलनी कठिन ही हैं पर उसका फिर दूसरा प्रकार वह भी आचार्य (मनु) यह भी लिखते हैं—"शुचौ देशे प्रतिष्ठाय स्थिरमानसमात्मनः" अर्थात् शुद्ध और पवित्र स्थान में स्थिर आसन लगाकर इस कृत्य की पूर्ति कर लिया करें। सम्पन्न व्यक्ति तो अपने घरों में कोई विशेष स्थान भी इस कार्य की पूर्ति के लिये नियत कर सकते हैं।" (वैदिक संध्या सार)

ऐसे उपासना-स्थलों में प्रार्थना-जप-मनन आदि के अतिरिक्त और कुछ भी न किया जाये तो अधिक अच्छा रहता है। सामूहिक प्रार्थना के लिए कोई मन्दिर या भवन उपयुक्त रहते हैं किन्तु ऐसे मन्दिर आदि भी कोलाहल तथा विक्षोभ भरे वातावरण में नहीं होने चाहियें अन्यथा मन की एकाग्रता भंग हो सकती है। अतः हम यही कहेंगे कि प्रार्थना वहीं करनी उपयुक्त रहती है जहां मन सरलता से एकाग्र हो सके। इसके लिये स्थान निश्चित करने से एक लाभ और भी है कि उस निश्चित स्थान के वातावरण तथा परमाणुओं में ऐसी दिव्यता आ जाती है कि वहां जाते ही मन स्वतः ही शान्त हो जाता है।

प्रार्थना कैसे करें ?

प्रार्थना कैसे करें—यह प्रार्थना विषयक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्रस्तुत पुस्तक के अब तक के प्रायः सभी प्रश्न सिद्धांत पक्ष के थे, व्यवहार पक्ष से सम्बन्धित यह प्रथम प्रश्न है। हम देखते हैं कि सिद्धान्त चाहे कितने ही उच्च क्यों न हों, यदि वे सही ढंग से व्यवहृत नहीं होते तो निरर्थक से ही माने जाते हैं। यदि हमारे आदर्श और व्यवहार में तादात्म्य नहीं तो फिर यही समझा जायेगा कि या तो हमारे सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण हैं या उनको व्यवहृत करने के तौर तरीके त्रुटिपूर्ण हैं या फिर व्यवहृत करने वालों की अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा में कमी है। जो भी हो हमारा व्यवहार हमारे आदर्शों के अनुरूप होना चाहिये, तभी आदर्शों की सार्थकता है। यद्यपि प्रार्थना मनुष्य की जन्मजात सहज प्रवृत्ति मानी गई है तथापि हमारी दृष्टि में यह एक कला भी है। साथ ही हमें यह लिखने में भी कोई संकोच नहीं कि हम में से अधिकांश जन इस कला से अनभिज्ञ ही हैं। तभी भक्त प्रार्थना करता है कि हे

प्रभु ! तुम हमें प्रार्थना की विधि भी सिखाओ—

"नहीं हूँ जानता भगवन विनय कैसे सुनाऊँ मैं ।
विधि से सर्वथा अनभिज्ञ कहां से सीख आऊँ मै ।"

और

शअऊरे सजदा नहीं है मुझको, तुम मेरे सजदे की लाज रखना ।

रुचि, स्वभाव तथा मान्यताओं में विभिन्नता के कारण भक्तों ने प्रार्थना की भी विभिन्न पद्धतियां चला रखी हैं । कोई किसी एक मुद्रा, आसन तथा दिशा विशेष में मुँह करके प्रार्थना करने को कहता है तो दूसरा किसी और ढंग से । इस पर विशेषता यह कि प्रार्थना किस भाषा में की जाये ? यह सब भेद देखकर सामान्य जन सोच में पड़ जाते हैं कि प्रार्थना की सही विधि कौन सी है, एवं प्रार्थना कैसे की जानी चाहिये ? हमारी सुदृढ़ मान्यता है कि प्रार्थना में महत्व इस बात का नहीं कि प्रार्थना कहाँ, कैसे, किस दिशा को मुख करके, किस मुद्रा अथवा आसन में और किस भाषा में की जाये ? महत्व तो इस बात का है कि प्रार्थना में लगन एवं आतुरता कितनी है । प्रार्थना शब्द में 'प्र' उपसर्ग इसी बात का द्योतक है । 'प्र' का अर्थ है—प्रकर्षण अर्थात तीव्रता से, विशेष उत्कण्ठा से । वस्तुतः जिसमें उत्कण्ठा नहीं, प्रकर्षण नहीं वह प्रार्थना नहीं कही जा सकती, उसे तो अर्थना ही कहा जायेगा । प्रार्थना की मुख्य विशेषता ही उसमें विशेष उत्कण्ठा, व्यग्रता और आतुरता का होना है । इसके अभाव में प्रार्थना प्रायः निष्प्रयोजन एवं निष्फल सी ही रहती है । सत्य तो यह है कि हृदय की तड़पन ही सच्ची प्रार्थना है । यदि हृदय में तड़प नहीं तो प्रार्थना कैसी ? अतः प्रार्थना के लिये हृदय में तड़प को जागृत करना आवश्यक होता है । प्रार्थना में हृदय-रहित शब्दों की अपेक्षा शब्द-रहित हृदय श्रेष्ठ है ।

ईश्वर केवल वही सुनता है जो हृदय बोलता है। यदि ऐसा न होता तो गूँगे, तुतले, अबोध बालक तथा मूढ़ जन उसे अपनी बात कैसे सुना सकते थे। याद रखो ! यदि तुम्हारा हृदय मूक है तो तुम उसे अपनी बात सुना ही नहीं सकते। वाणी के मूक होने की बात तो समझ आती है, हृदय के मूक होने की नहीं। मनीषियों का कथन है कि प्रार्थना का मुख्य केन्द्र वाणी नहीं हृदय है। डा० राधाकृष्ण का कथन है—"The principal centre of spiritual life is the heart By inward prayer, we enable the heart to participate in the union with God." (Recovery of Faith page 149). अर्थात आध्यात्मिक जीवन का मुख्य केन्द्र हृदय है। आन्तरिक अर्थात मौन प्रार्थना से हम हृदय को ईश्वर के साथ मेल के योग्य बनाते हैं। प्रार्थना के स्वर जब हृदय से उठते हैं तो प्रार्थी के अन्तःकरण में एक अद्‌भुत मस्ती सी छा जाती है और वह स्वयं को भूलकर प्रभु के चरणों में तल्लीन हो जाता है। जिस प्रकार प्रेमातिरेक में प्रेमी मूक हो जाता है, वैसे ही ईश्वर के प्रेम में तन्मय व्यक्ति भी मूक हो जाता है। वहाँ होंठ नहीं हिलते, मुख नहीं बोलता वरन हृदय मुखरित हो उठता है। तब विश्वात्मा से आत्मा का अनुपम वार्तालाप होता है। हृदय का यह काम होठों से कभी भी नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि—

"दिल की हर बात कहीं लफ़्ज़ों में होती है बयां,
हर अफ़साना कहीं ममनूने बयां होता है।"

निष्कर्ष यह है कि प्रार्थना हृदय से की जानी योग्य है; तभी वह फलवती होती है। प्रार्थना सम्बन्धी उपर्यक्त विवेचन से यह न समझ लिया जाये कि हम बोल कर प्रार्थना कर ही नहीं सकते।

प्रभु ! तुम हमें प्रार्थना की विधि भी सिखाओ—

"नहीं हूँ जानता भगवन विनय कैसे सुनाऊँ मैं ।
विधि से सर्वथा अनभिज्ञ कहां से सीख आऊँ मैं ।"

और

शअऊरे सजदा नहीं है मुझको, तुम मेरे सजदे की लाज रखना ।

रुचि, स्वभाव तथा मान्यताओं में विभिन्नता के कारण भक्तों ने प्रार्थना की भी विभिन्न पद्धतियां चला रखी हैं । कोई किसी एक मुद्रा, आसन तथा दिशा विशेष में मुँह करके प्रार्थना करने को कहता है तो दूसरा किसी और ढंग से । इस पर विशेषता यह कि प्रार्थना किस भाषा में की जाये ? यह सब भेद देखकर सामान्य जन सोच में पड़ जाते हैं कि प्रार्थना की सही विधि कौन सी है, एवं प्रार्थना कैसे की जानी चाहिये ? हमारी सुदृढ़ मान्यता है कि प्रार्थना में महत्व इस बात का नहीं कि प्रार्थना कहाँ, कैसे, किस दिशा को मुख करके, किस मुद्रा अथवा आसन में और किस भाषा में की जाये ? महत्व तो इस बात का है कि प्रार्थना में लग्न एवं आतुरता कितनी है । प्रार्थना शब्द में 'प्र' उपसर्ग इसी बात का द्योतक है । 'प्र' का अर्थ है—प्रकर्षेण अर्थात तीव्रता से, विशेष उत्कण्ठा से । वस्तुतः जिसमें उत्कण्ठा नहीं, प्रकर्षण नहीं वह प्रार्थना नहीं कही जा सकती, उसे तो अर्थना ही कहा जायेगा । प्रार्थना की मुख्य विशेषता ही उसमें विशेष उत्कण्ठा, व्यग्रता और आतुरता का होना है । इसके अभाव में प्रार्थना प्रायः निष्प्रयोजन एवं निष्फल सी ही रहती है । सत्य तो यह है कि हृदय की तड़पन ही सच्ची प्रार्थना है । यदि हृदय में तड़प नहीं तो प्रार्थना कैसी ? अतः प्रार्थना के लिये हृदय में तड़प को जागृत करना आवश्यक होता है । प्रार्थना में हृदय-रहित शब्दों की अपेक्षा शब्द-रहित हृदय श्रेष्ठ है ।

ईश्वर केवल वही सुनता है जो हृदय बोलता है। यदि ऐसा न होता तो गूंगे, तुतले, अबोध बालक तथा मूढ़ जन उसे अपनी बात कैसे सुना सकते थे। याद रखो ! यदि तुम्हारा हृदय मूक है तो तुम उसे अपनी बात सुना ही नहीं सकते। वाणी के मूक होने की बात तो समझ आती है, हृदय के मूक होने की नहीं। मनीषियों का कथन है कि प्रार्थना का मुख्य केन्द्र वाणी नहीं हृदय है। डा० राधाकृष्ण का कथन है—"The principal centre of spiritual life is the heart. By inward prayer, we enable the heart to participate in the union with God." (Recovery of Faith page 149). अर्थात आध्यात्मिक जीवन का मुख्य केन्द्र हृदय है। आन्तरिक अर्थात मौन प्रार्थना से हम हृदय को ईश्वर के साथ मेल के योग्य बनाते हैं। प्रार्थना के स्वर जब हृदय से उठते हैं तो प्रार्थी के अन्तःकरण में एक अद्भुत मस्ती सी छा जाती है और वह स्वयं को भूलकर प्रभु के चरणों में तल्लीन हो जाता है। जिस प्रकार प्रेमातिरेक में प्रेमी मूक हो जाता है, वैसे ही ईश्वर के प्रेम में तन्मय व्यक्ति भी मूक हो जाता है। वहाँ होंठ नहीं हिलते, मुख नहीं बोलता वरन हृदय मुखरित हो उठता है। तब विश्वात्मा से आत्मा का अनुपम वार्तालाप होता है। हृदय का यह काम होठों से कभी भी नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि—

"दिल की हर बात कहीं लफ़्ज़ों में होती है बयां,
हर अफ़साना कहीं ममनूने बयां होता है।"

निष्कर्ष यह है कि प्रार्थना हृदय से की जानी योग्य है; तभी वह फलवती होती है। प्रार्थना सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह न समझ लिया जाये कि हम बोल कर प्रार्थना कर ही नहीं सकते।

आप चाहें तो बोल कर भी प्रार्थना कर सकते हैं। हमारा तो केवल इतना ही कहना है कि आप जैसे भी प्रार्थना करें, आपके हृदय का उसमें पूर्ण सहयोग होना चाहिये। यहां एक और महत्वपूर्ण वात की ओर भी हमें संकेत करना है। वह यह कि प्रायः कुछ लोग कुछ श्लोक, स्तोत्र अथवा पद आदि रट लेते हैं। कोई-कोई एक सुन्दर शब्दावली सी कण्ठस्थ कर लिया करते हैं और उन्हीं से प्रार्थना करते हैं। प्रारम्भ में ऐसी प्रार्थनायें वहुत रोचक लगती हैं एवं उनमें मन भी लगता है किन्तु शीघ्र ही ऐसी प्रार्थना शाब्दिक व्यायाम बनकर रह जाती हैं। मन को उन शब्दों का भाव स्पर्श ही नहीं कर पाता। और तव प्रार्थना के पूर्व रटे श्लोक अथवा स्तोत्र आदि यन्त्रवत विना अर्थ का कोई ध्यान दिये पढ़ दिये जाते हैं। ऐसी प्रार्थना का भी कोई विशेष लाभ नहीं होता क्योंकि प्रार्थना केवल पाठ करना नहीं, यह तो उत्कण्ठा पूर्वक अपने हृदय की करुण पुकार परमकारुणिक प्रभु के सम्मुख रखने की एक पवित्र प्रणाली है। अतः हमें अपने इन श्लोकों अथवा स्तोत्रों को प्रतिदिन की प्रार्थना का पाठ नहीं वनने देना चाहिए। जव भी हृदय के भाव उनसे जगने वन्द हो जायें, उन्हें बदल देने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये। उत्तम प्रार्थना वह हैं, जिसके शब्द पूर्व से निश्चित न हों। प्रार्थना करते समय जो भाव चित्त में उठें उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त होने देना चाहिये। श्री नित्यानन्द जी पटेल ठीक ही लिखते हैं— "प्रार्थना का बंधी–बंधाई होना कोई अभीष्ट नहीं है। प्रार्थना वड़ी व्यवस्थित हो, कोई जरूरी नहीं है। अस्त-व्यस्त भावों में भी सुन्दर प्रार्थना हो सकती है। न सुन्दर शब्दों की आवश्यकता है न अलंकारिक प्रयोगों की।" (प्रार्थना दीप, पृष्ठ ३२)

प्रार्थना पुरुषार्थपूर्वक करें--

हमें प्रार्थना सदैव पुरुषार्थपूर्वक करनी चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रार्थना में पुरुषार्थ का बहुत महत्व है। पुरुषार्थ-हीन प्रार्थना प्राय: निष्फल जाती है। महर्षि दयानन्द तो प्रार्थना से पुरुषार्थ को अधिक महत्व हैं। वे लिखते देते हैं कि—"जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा हो वर्तमान भी करना चाहिए अर्थात जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।" क्योंकि "जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त व उसका स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।" इतना ही नहीं महर्षि तो यहाँ तक लिखते हैं कि "जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महामूर्ख हैं क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा।" (सप्तम समुल्लास) स्पष्ट है प्रार्थना में बंधें दो हाथों की अपेक्षा पुरुषार्थ में लगा एक हाथ भी श्रेयस्कर ही है।

प्रार्थना निष्पाप होकर करें—

हमें प्रार्थना सदैव निष्पाप होकर करनी चाहिये। क्योंकि पापों में लिप्त रहकर प्रार्थना करना सर्वथा बेमानी एवं निरर्थक है। हां पापों से बचने तथा पापमय जीवन से उबरने के लिये प्रार्थना का सहारा लेना उचित एवं समीचीन है। पापमय जीवन से उबरने एवं पापों से बचने के लिये ईश्वर से सहाय की इच्छा न की जायेगी तो फिर और किससे की जायेगी ? किन्तु हम प्रार्थना तो निष्पाप होने की करें पर पाप कर्म छोड़ने का यत्न न करें तो ऐसी प्रार्थना

करने का कोई लाभ नहीं। वस्तुतः प्रार्थना है ही निष्पाप बनने के

लिये। मनुष्य अपने दुर्गुणों को जितना स्वयं जानता है उतना अन्य कोई नहीं। अतः अपने अवगुणों की पड़ताल कर उन्हें छोड़ने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ होकर प्रभु से प्रार्थना करने से पाप वासनायें दग्ध हो जाती हैं। कहा भी है—

विषय का विषधर जव डसे तू ओम जड़ी को चबा।
है नाग दमन यह औषधि तू ढूंढने और न जा।।

और

जव ही नाम हृदय परयो, भयो पाप को नाश।
जैसे चिनगी आग की परे पुरानी घास।।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम व्यर्थ को अपने आप को पापी भी न समझते रहें। और अपनी प्रार्थना में नित्य अपने को मूर्ख, खल, कामी आदि से स्मरण न करें। क्योंकि ऐसी प्रार्थना आत्मोत्थान में प्रायः बाधक ही हुआ करती हैं। पं० चमूपति जी का कथन है कि "जिन प्रार्थनाओं में जीव अपने आपको पतित तथा पापी कहे और परमात्मा को पतित-पावन और नित्य प्रति एक ही से शब्दों में गिड़गिड़ा कर कहा करे, हे भगवान ! तू मुझे उठा पर स्वयं उठने का यत्न न करे; वह प्रार्थनायें निरर्थक हैं। यदि आज भी मैं उतना ही पापी हूँ जितना कल था, तो ईश्वर ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी और मेरा यह भ्रम कि वह पतितोद्धारक है निर्मूल सा है।" (संध्या रहस्य, पृष्ठ १५) वस्तुतः पाप का स्मरण पश्चाताप के लिये ही होना चाहिये। अपने आपको यों ही पापी कहते रहना कोई अच्छी बात नहीं। हमें सोचना चाहिये कि यदि हम पापी हैं तो निष्पाप-प्रभु से हमारी मित्रता कैसे हो सकती है और फिर ऐसी स्थिति में हम उसकी सहायता की आशा ही कैसे कर सकते हैं ?

इसीलिये तो किसी कवि ने कहा है कि—

का मुख ले विनती करूँ, लाज आवत है मोहे।
तुम देखत अवगुण करूँ, कैसे भाऊँ तोहे॥

स्पष्ट है कि प्रार्थना एवं निष्पापता का अति घनिष्ट सम्बन्ध है अतः हमें प्रार्थना सदैव निष्पाप होकर ही करनी चाहिये।

प्रार्थना विवेकपूर्वक करें—

हमें प्रार्थना सदा विवेक-पूर्वक करनी चाहिये क्योंकि अविवेक पूर्वक की गई प्रार्थना, प्रार्थना का उपहास ही है। हमें असम्भव एवं अस्वाभाविक बातों के लिये प्रार्थना कभी नहीं करनी चाहिये। महर्षि दयानन्द का कथन है कि "ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जायें इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो जावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये।" (सप्तम समुल्लास) इतना ही नहीं महर्षि का कथन है कि "परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है हानिकारक कर्म में नहीं।" यह भी ध्यान रहे कि हमारी प्रार्थना उलाहनों आदि से रहित हो। क्योंकि उसे बेमिहर, निष्ठुर आदि उलाहने देने से क्या वह हम पर महरबान अथवा दयालु हो जायेगा? साथ ही हमें प्रार्थना सदैव

विश्वास-पूर्वक करनी चाहिये। विश्वास रहित प्रार्थना करने से प्रार्थना न करना ही ठीक है।

प्रार्थना करने से पूर्व–

जैसे भोजन करने से पूर्व उसकी तैयारी करनी होती है। वैसे ही प्रार्थना करने से पूर्व भी तैयारी करनी होती है। हम उठते ही भोजन खाना प्रारम्भ नहीं कर देते। प्रथम शौचादि से निवृत हो दांत मांजते हैं। फिर स्नान करते हैं। तब संध्या वंदन और फिर खाना पीना। तात्पर्य यह कि भोजन से पूर्व शौच स्नान आदि क्रियायें उसकी तैयारी में की जाती हैं। इसी प्रकार प्रार्थना की भी तैयारी की जानी योग्य है। वह कैसी? जैसा कि हम पूर्व भी लिख आये हैं कि प्रार्थना का केन्द्र बिन्दु हृदय है। हृदय की शान्ति, मन की एकाग्रता ही प्रार्थना की तैयारी है। प्रार्थना करने से पूर्व मन को एकाग्र कर लेना अत्यावश्यक है। कारण कि यदि मन चंचल एवं उद्विग्न रहा तो प्रार्थना में व्यग्रता एवं आतुरता नहीं आ सकती। फिर प्रार्थना "प्रार्थना" न होकर मात्र "अर्थना" रह जायेगी। अतः मन में व्यग्रता एवं आतुरता जगाने के लिये उसका एकाग्र होना आवश्यक है। सत्य तो यह है कि जिसे हमने प्रार्थना सुनानी हैं, उसके पास मन को एकाग्र किये बिना हम पहुँच ही नहीं सकते। और पास पहुँचे विना प्रार्थना सुनाना, क्या सुनाना है? वेद का आदेश है कि प्रार्थना निकट से सुनाओ। इसलिये निकट से सुनाने के लिये मन की एकाग्रता परम आवश्यक है। यह मन चंचल अवश्य है किन्तु ऐसा नहीं कि जो वश में हो ही न सके। वैराग्य और अभ्यास के द्वारा मन वश में हो सकता हैं किन्तु इसके लिये थोड़ी साधना की आवश्यकता है। साधना भी दो प्रकार की। एक तो इस रूप में कि हमारा आहार, विचार तथा आचार सदैव शुद्ध हो और दूसरे यह कि प्रार्थना करने से पूर्व थोड़ी सी ऐसी

क्रियाये कर ली जायें जो मन की एकाग्रता में सहायक सिद्ध होती हैं। आप जानना चाहेंगे कि वे कौन सी हैं। हैं तो वड़ी साधारण सी पर यदि कोई करे तो। मन को शान्त करने के लिए प्रार्थना करने से पूर्व थोड़ा प्राणायाम कर लेना उचित रहता है। प्राणायाम अंतःकरण के मल को काटता है और मन शीघ्र शान्त एवं स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् आचमन तथा मार्जन की क्रियायें करनी चाहियें। इन सभी क्रियाओं से मन की एकाग्रता में सफलता मिलती है। वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने वटाला के एक सुशिक्षित मुसलमान नवयुवक की कथा 'आनन्द उपदेश माला' में लिखी है। वह नवयुवक नहा धोकर आया ही था कि हाथ पैर धोने लगा अर्थात वुजू करने लगा। स्वामी जी समझ तो गये कि वह नमाज पढ़ेगा फिर भी उन्होंने पूछ ही लिया कि जब आप अभी नहा धोकर आये हैं तो फिर यह हाथ पैर धोने की क्या आवश्यकता थी? जानते हैं नवयुवक ने क्या उत्तर दिया? वह बोला कि नहाना शरीर की स्वच्छता के लिये था, वुजू मन की स्वच्छता के लिये हैं। सध्या में महर्षि दयानन्द ने प्राणायाम, आचमन तथा अंगस्पर्श की क्रियायें किसी विशेष प्रयोजन से ही रखी थीं। यह क्रियाये मन को एकाग्र करने में वड़ी सहायक होती हैं। अतः नियमित दैनिक प्रार्थना करने से पूर्व इन क्रियाओं को अवश्य कर लेना चाहिये। किन्तु उन प्रार्थनाओं में जो आतुरता भरे क्षणों में स्वतः ही हमारे हृदय से प्रस्फुटित हो पड़ती है, इन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि तब मन स्वतः ही एकाग्र हो जाता है। पर आहार, विचार तथा आचार की शुद्धि उस अवस्था में भी आवश्यक है। यही प्रार्थना की तैयारी है जो कि हमें आजीवन करनी होती है यदि हम प्रार्थनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हों तो।

प्रार्थना क्या करें अर्थात प्रार्थना में क्या माँगे—यह प्रार्थना विज्ञान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि हम इसे इस विज्ञान अथवा अध्ययन का सार कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। कारण कि क्या, क्यों, कैसे तथा कब, कहाँ और किस से आदि सभी प्रश्नों का समुचित समाधान इसी एक लक्ष्य तक पहुँचाने के विभिन्न साधन अथवा सोपान ही हैं। यद्यपि यह प्रश्न कि हम प्रार्थना क्या करें अथवा प्रार्थना मेंप्रभु से किस बात की चाहना करें या कैसी सहायता की इच्छा करें—एक साधारण सा प्रश्न प्रतीत होता है किन्तु प्रश्न की गहराई में उतरने से हमें यह अति कठिन, जटिल एवं गम्भीर प्रश्न लगने लगता है। हम प्रभु से धन, सम्पत्ति, सुख के साधन, उत्तम स्वास्थ्य,दीर्घायुष्य, बल, बुद्धि, यश, विजय आदि सभी कुछ माँग सकते हैं एवं मांगते भी रहते हैं किन्तु यह सब वस्तुयें ऐसी हैं कि जिनसे मनुष्य की कभी भी तृप्ति नहीं होती। सत्य है—

हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले॥

यदि देखा जाये तो मनुष्य की तृष्णायें कभी समाप्त नहीं होतीं। मनुष्य भले ही समाप्त हो जाये उसकी तृष्णायें समाप्त नहीं होतीं। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा॥

इसीलिये कहा गया है कि—

"राहते क़लबी के तालिब को क़नाअत चाहिये।
कम है कारूँ का ख़ज़ाना भी हवस के वास्ते॥

अर्थात आत्मिक शान्ति के इच्छुक के लिये सन्तोष की आवश्यकता है। वासनाओं की तृप्ति के लिये तो संसार की समस्त सम्पदा भी अपर्याप्त ही रहती है। किन्तु सन्तकवि कबीर दास का तो कुछ और ही कथन है। संसार की नश्वरता को देखते हुये वे कहते हैं कि—

"का मांगूं कछु थिर न रहाई। देखत नयन चला जग जाई।"

इसीलिये कहा गया है कि प्रार्थना में ऐसा कुछ मत माँगो जो विनाशशील है।

जीव अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ होने से वह यह नहीं जान सकता कि उसके लिये क्या हितकर है, क्या नहीं। अतः हमें प्रभु से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे प्रभु। मैं अवोध वालक नहीं जानता कि मेरे लिये क्या हितकर है, क्या नहीं। अतः हे नाथ ! आप स्वयं ही हमारे लिये जो हितकर हो अनुकम्पा पूर्वक हमें प्रदान करो।" और फिर यदि हमें कुछ मांगना ही है तो क्यों न हम उससे मेधा बुद्धि की याचना करें कि जिससे हिताहित का भी कुछ वोध हो सके। महर्षि ठीक ही कहते हैं कि "जव-जव परमेश्वर की प्रार्थना करनी योग्य हो तव-तव अपने लिये वा और के लिये समस्त शास्त्र के विज्ञान से युक्त उत्तम बुद्धि ही मांगनी चाहिए, जिसके पाने पर समस्त सुखों के साधनों को जीव प्राप्त होते हैं।" (यजुर्वेद भाष्य, २२/१२) मेधा बुद्धि ही हमारे प्रसुप्त विवेक को जागृत करती है और हमें साँसारिक प्रलोभनों से ऊपर उठाती है। विवेकशील व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा प्रभु की प्रसन्नता पाने को अधिक उत्सुक रहता है। उसकी मान्यता है कि—

तुझ से मांगूँ मैं तुझ ही को कि सब कुछ मिल जाये।
सौ सवालों से फकत यह इक सवाल अच्छा है॥"

फिर तो यह कहता है कि—

"तमन्ना है कि हम तुम से तुम्हीं को मांग लें साहिब ।
हमारी आरजू तुम हो, हमारा मुदआ तुम हो ।"

इस तमन्ना के, इस आरजू के क्या कहने—

'अनोखी तलव है, अजव आरजू है, तुम्हीं से तुम्हें मांगना चाहता हूँ'

वेद कहता है—"रसेन तृप्तः न कुतश्च नोनः" उस रसों के भण्डार प्रभु को पाकर फिर विषयों का क्षणिक रस क्या उसे आकर्षित कर सकेगा ? क्योंकि—

"जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल भावे ?"

जव हम प्रभ् से प्रभु को मांगने की बात कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये कि हम अन्य साँसारिक वस्तुओं को मांगने का निषेध कर रहे हैं । जव वेद धनैश्वर्य आदि सांसारिक वस्तुओं को मांगने का निषेध नहीं करता तो हम ऐसा कैसे कर सकते हैं । हमारा तो केवल यही कहना है कि मनुष्य के लिये जितने भी कमनीय पदार्थ हैं, परमात्मा उनमें सर्वोत्तम है । उसे पाकर फिर किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं रहती । पर दुःख तो यह है कि भौतिकता की चकाचौंध में आज हम प्रभु की नहीं प्रभुता की चाहना करने लगे हैं । सत्य है—

"ऐसे वहुत हैं जो तेरी दौलत के यार हैं,
वहुत कम हैं जो तेरे तलबगार हैं ।"

और सच पूछिये तो आज स्थिति यह है कि—

ज़र को ही जिन्दगी का सहारा समझ लिया ।
भंवर को ही किश्ती ने किनारा समझ लिया ।।

खोजी रत्नों को छोड़कर रोड़ी की है तलाश

मायापति से माया को प्यारा समझ लिया ।।

आज प्रभुता के दीवाने हम लोग प्रभु को भुलाये बैठे हैं। हम भूल जाते हैं कि प्रभु को भजने से प्रभुता स्वतः ही प्राप्त होने लगती है। कहा भी है कि—

"प्रभुता को सब कोई भजे, प्रभु को भजे न कोय।

जो प्रभु ही को भजे तो, प्रभुता चेरी होय ।।"

दुःख है कि आज हम प्रभु को अपनी आवश्यकतायें बताना ही प्रार्थना का एकमात्र उद्देश्य समझे बैठे हैं। ऐसा कर जहाँ एक ओर हम प्रार्थना के अत्युच्च उद्देश्य का अवमूल्यन कर बैठते हैं, वहां उस सर्वज्ञ प्रभु की सर्वज्ञता पर भी सन्देह करने लगते हैं। क्या सर्वज्ञ तथा सर्वान्तर्यामी प्रभु हमारी आवश्यकताओं को नहीं जानता ? वह तो हमारे मनोगत भावों को, अनबोले बोलों को तभी जान लेता है कि जब वे हमारे मन में उठने ही लगते हैं। सत्य है—

"हाले दिल हम सुनाये क्या उसे, हाल इक-इक का जिसे मालूम है।

क्या हमारे हाल से है बेखबर, हाल हर-इक का जिसे मालूम है ?"

तो फिर हम प्रार्थना क्या करें ? महर्षि दयानन्द सरस्वती हमें एक ऐसी निर्दोष वैदिक प्रार्थना दे गये हैं कि जिसको हम जब भी चाहें उत्सुकता-पूर्वक कर सकते हैं। वह है--सभी दुर्गुण, दुर्व्यसनों एवं दुःखों को छोड़कर कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थों की प्राप्ति की प्रार्थना। इससे बढ़कर कोई भी प्रार्थना हो सकती है— यह हमारी समझ में नहीं आती। अब तक कल्याण अथवा भद्र की प्राप्ति की प्रार्थनायें ही प्रायः की जाती रही हैं। सुकरात ने प्रार्थना की थी कि "हे प्रभु ! मै नहीं जानता कि मेरे लिये क्या हितकर है

क्या नहीं अतः आप स्वयं जो मेरे लिये हितकर हो, वह प्रदान करें।" सुकारात की प्रार्थना केवल भद्र की प्राप्ति तक सीमित रह जाती है किन्तु देव दयानन्द उससे एक पग आगे बढ़ जाते हैं जबकि वे भद्र की प्राप्ति के साथ२ अभद्र से छुटकारे की प्रार्थना भी करते हैं। वस्तुत: हम प्रभु की प्रसन्नता तभी पा सकते हैं जब हम अभद्र गुण, कर्म, स्वभाव को छोड़ने की प्रार्थना एवं स्वयं पुरुषार्थ करेंगे। महात्मा कर्मवीर जी साधक प्राय: ऐसी प्रार्थना किया करते थे कि "हे प्रभु ! यदि हम तेरे पुत्र हैं तो ऐसी कृपा करो और हमें इस योग्य बनाओ कि हमें तुम्हारा पुत्र कहलाने में लज्जा की अनुभूति न करनी पड़े और यदि हम तेरे मित्र हैं तब हमें इस योग्य बना कि हम गर्व के साथ अपने मित्र का नाम ले सकें। और हे प्रभु ! यदि हम तेरे सेवक हैं तो भी हमें इस योग्य बना कि हम गर्व के साथ अपने स्वामी का नाम ले सकें।" एक दिन लेखक ने इन गूढ़ भावों का रहस्य पूज्य महात्मा जी (लेखक के पूज्य पिता जी) से पूछा तो वे बोले कि यदि हम शुद्ध एवं पवित्र गुण, कर्म और स्वभाव वाले के पुत्र हैं और स्वयं अशुद्ध एवं अपवित्र गुण, कर्म, स्वभाव रखते हैं तो पिता का नाम लेते हुए लज्जायेंगे ही और यदि हम ऐसे पवित्र गुण कर्म स्वभाव वाले के मित्र हैं तो हमारे गुण कर्म स्वभाव भी यथासम्भव वैसे ही होने चाहियें क्योंकि मित्रता समान गुण कर्म स्वभाव वालों की ही निभा करती है और यदि हम बड़े घर के सेवक हैं तो हमारे गुण भी तदनुकूल ही होनी चाहिये। इसमें एक भाव और भी निहित है। वह यह कि यदि हम उस सभी धनैश्वरयों एवं बलों के स्वामी परम पिता परमात्मा के पुत्र, मित्र अथवा सेवक हैं और इस पर भी हम दरिद्र, दु:खी एवं निर्बल हैं तो तब भी हम अपने पिता, मित्र अथवा स्वामी का नाम लेते-हिचकचायेंगे ही। ऐसी अवस्था में जहां हम अपने गुण, कर्म और

स्वभाव को यथासम्भव शुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयत्न करेंगे वहाँ अपनी दरिद्रता, निर्बला आदि को दूर करने का भी भरसक स्वयं भी प्रयत्न करेंगे और ईश्वर की सहायता की इच्छा करेंगे। ऐसी दशा में प्रभु अवश्यमेव हमारी सहायता कर हमारे दुःखों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, दरिद्रता आदि को दूर करने में परम सहायक होंगे। क्योंकि जैसा कि महर्षि दयानन्द का कथन है कि "जब सच्चे मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे छोटा बालक जब घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास आना चाहता है या नीचे से ऊपर जाना चाहता है, तब माता-पिता हजारों आवश्यक कामों को भी छोड़ कर और दौड़ कर अपने लड़के को उठा कर गोद में ले लेते हैं कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से उसको दुःख होगा। जैसे माता पिता अपने बच्चों को सदा सुख देने और उनको सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं। वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब वह अनन्त शक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिये रखता है। फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता और सदा आनन्द से रहता है। जैसे करुणामय पिता स्वपुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रखो; क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे तो उसकी शोभा आपको नहीं होगी, किञ्च सन्तानों को सुधारने से ही पिता की बढ़ाई होती है, अन्यथा नहीं।...... आपके पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे तभी आप पिता की शोभा है, क्योंकि लड़के लोग छोटी व बड़ी चीज़ अथवा सुख पिता-माता को छोड़ किससे मांगे ? सो आप सर्वशक्तिमान हमारे पिता सब ऐश्वर्य तथा सुख देने वालों में पूर्ण हो।" जहां

हमारा प्रभु के प्रति कर्त्तव्य है वहाँ उसका भी तो कुछ उत्तरदायित्व है। अतः यह प्रार्थना कि "हे प्रभु ! हमें इस योग्य बना कि हम तेरे पुत्र कहलाने के अधिकारी हो सकें," एक उत्कृष्ट प्रार्थना है। पुत्र हो अथवा सेवक यदि वह अपने पिता अथवा स्वामी की आज्ञाओं का ठीक-ठीक पालन करता है तो वह उसकी प्रसन्नता सहज में ही पा लेता है। अब देखना यह है कि उसकी आज्ञायें हैं क्या ? हमारी मति में उसकी आज्ञायें हमें दो रूपों में प्राप्त होती हैं। एक तो वेदज्ञान द्वारा विधि-निषेध के रूप में और दूसरी प्रत्येक शुभ कर्म के करने पर आत्मा में आनन्द, उत्साह एवं प्रीति के रूप में एवं बुरे कर्म करने पर आत्मा में भय, शंका, लज्जा के रूप में। महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास में इनको ईश्वर की ओर से संकेत मानते हैं। अतः हमें प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे प्रभु ! हम तुम्हारी कल्याणकारी वेदवाणी को समझने एवं तदनुकूल आचरण करने में सक्षम हों।" क्योंकि जब तक उसको ठीक-ठीक समझेंगे नहीं, तब तक आचरण ही कैसे कर सकते हैं। पर वेदज्ञान को तो हर कोई समझ नहीं सकता फिर वह क्या करे ? उसके लिये ईश्वर की आज्ञा आत्मा में उठने वाले संकेतों के रूप में शुभ कर्म करने पर आत्मा में आनन्द, उत्साह एवं प्रीति के रूप में एवं अशुभ कर्म करने पर भय, शंका एवं लज्जा के रूप में प्राप्त होती रहती है। यह दूसरी बात है कि आत्मा में उठने वाले इन दिव्य संकेतों की हम अवहेलना कर जायें। इसीलिये सबको ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे प्रभु ! हमें वह शक्ति प्रदान करो जिससे अपनी आत्मा में उठने वाली इन दिव्य तरंगों को हम ठीक-ठीक सुन सकें और उनकी अवहेलना न करें।" सत्य जानिये जिस दिन हमने अपने आत्मा में उठने वाली इन दिव्य भावनाओं का आदर करना सीख लिया हम पवित्रता की ओर बढ़ने लगेंगे। और

तव प्रभु की प्रसन्नता पाने में तनिक भी देर नहीं लगेगी। और प्रभु

की प्रसन्नता पा लेने के पश्चात हमारे लिये कुछ पाना शेष नहीं रह जायेगा। यही प्रार्थना का उत्कर्ष है। क्या हम कर पायेंगे ऐसी प्रार्थना ?

प्रार्थना द्वारा मनोरथ सिद्धि—

पुरुषार्थमयी, तीव्र उत्कण्ठापूर्वक, पूर्ण विवेक से की गई प्रार्थना हमारे मनोरथों की सिद्धि करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु सभी उचित-अनुचित मनोरथ इस से सिद्ध हो जायेंगे—ऐसा सोचना भी यथार्थ नहीं। कारण कि प्रभु सर्वज्ञ है एवं भलीभाँति यह जानता है कि हमारे लिये क्या हितकर है क्या नही। जिन प्रार्थनाओं में हमारा अहित छिपा होता है वह कदापि नहीं स्वीकारता। जव सांसारिक माता अपने अबोध बच्चे के हठ करने पर भी खुला हुआ चाकू उसके हाथ में नहीं देती तो परम करुणामयी जगदम्बा से कैसे आशा कीं जा सकती है कि वह हमारे लिए अहित-कारी प्राथंना को स्वीकार कर लेगी। यही कारण है कि कभी-कभी पूर्ण मनोयोग पूर्वक की गई हमारी प्रार्थना भी स्वीकृत नहीं होती। दूसरे यह कि हमारी प्रार्थना ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था को कभी भी बदल नहीं सकती। मिल्टन का यह कथन यथार्थ ही है कि "यदि अपनी सतत् पुकारों द्वारा हम उस प्रभु की व्यवस्था को बदल देने में समर्थ होते तो अपनो लगातार पुकारों से उसे परेशान करना कभी भी न छोड़ते।" महर्षि दयानन्द कीं सुस्पष्ट मान्यता है कि "किसी मनुष्य पर पिछले पुण्य इकट्ठे होने तथा विशेष शुद्ध क्रियमाण कर्म करने के बिना परमेश्वर की दया प्राप्त नहीं होती।" फारसी में एक कहावत है कि यदि बच्चों की वह प्रार्थना स्वीकृत हो जाती कि हमारा शिक्षक मर जाये ताकि विद्यालय की छुट्टी हो

जाये, तो कोई भी शिक्षक जीवित न बचता। सही दिशा में सही ढंग से की गई प्रार्थना अवश्यमेव स्वीकृत होती है। क्योंकि उसमें अनिष्ट चिन्तन होता ही नहीं। यहां इस बात का भी ध्यान रहे कि प्रार्थना कोई अलादीन का चिराग या जादू की छड़ी नहीं कि जिससे जो चाहे तुरन्त प्राप्त करने की कल्पना कर ली जाये, विना इस बात को देखे कि हम जिस वस्तु के लिये प्रार्थना कर रहे हैं, उसके पात्र भी हैं कि नहीं। कठिनाई तो यह है कि जब हम प्रार्थना करते हैं तो चाहते हैं कि कोई चमत्कार हो जाये किन्तु हम भूल जाते हैं कि—God is not a cosmic bell boy, for whom you press a button to get things

प्रार्थना की अस्वीकृत से हमें निराश नहीं होना चाहिये। और प्रार्थना का सहारा छोड़ नहीं देना चाहिये क्योंकि—

'उसे फज़ल करते नहीं लगती बार, न मायूस हो उससे उम्मीदवार।'

और

चुपके चुपके जो सदा दिल से किया करता है,
उसको निश्चय ही वह मन्ज़ूर किया करता है।
बारगाहे ईश से मायूस न होना चाहिये,
तू तो इन्सान है वह चींटी की भी सुना करता है।।"

कभी-कभी प्रार्थना की स्वीकृति में विलम्ब से हम व्याकुल हो उठते हैं। हम प्रार्थना की स्वीकृति में विलम्ब को उसकी अस्वीकृति समझने लग जाते हैं। किन्तु एडवर्ड महोदय का कथन है कि— Never think that God's delays are God's denials True prayer always receives what it asks or something better. (Tryon Edward) अर्थात यह मत सोचो कि परमात्मा का विलम्ब उसकी अस्वीकृति है। सच्ची प्रार्थना

द्वारा तुम जो मांगोगे मिलेगा, अपितु कुछ अधिक ही। हमें राधाकृष्ण परमहंस की यह उक्ति नहीं भूलनी चाहिए कि "समुद्र में गोता लगाने से यदि आपके हाथ मोती नहीं लगे तो यह मत सोचो कि समुद्र में मोती नहीं रहे। बार-बार गोता लगाओ, सफलता अवश्य मिलेगी।" इसी प्रकार एक-आधबार प्रार्थना करने पर यदि हमें मनोवांछित सफलता नहीं मिलती तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रार्थना द्वारा हमारे मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकते। हमें यह देखना चाहिये कि कहीं इसमें हमारी अपनी तो कोई त्रुटि नहीं। ऐसा न हो की कि "मीर तक्की मीर" को हमारे लिये यह कहना पड़े कि—

यारों की आहो ज़ारी होवे कुबूल क्योंकर।
उनकी जुवां पे कुछ है, दिल में है कुछ दुआ कुछ॥

प्रार्थना के स्वीकृत न होने के सम्बन्ध में संत दादू दयाल का कथन कुछ और ही है। वे कहते हैं—

दादू पीर न उपजी, न हम करी पुकार।
ताते साहिव न मिला दादू एती बार॥

अतः प्रार्थना में जहां पुरुषार्थ, विवेक तथा निष्पाप होने की आवश्यकता है वहां इसमें व्यग्रता, आतुरता एव उत्कण्ठा की पुट होनी भी अति आवश्यक है। तभी प्रार्थना फलवती होती है।

यहां एक अन्य बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक समझते हैं। वह यह कि प्रार्थना द्वारा सभी मनोरथ सिद्ध न होने पर भी यदि हमारी प्रार्थना हमारे मन एवं अन्तःकरण में शांति की तरंगें उत्पन्न कर देती है तो निश्चय समझिये कि आपकी प्रार्थना स्वीकृत हो रही है। सच्ची प्रार्थना की पहचान ही यही है कि वह प्रार्थना करने वाले के हृदय में व्याप्त उद्विग्नता को शांत कर दे। पाल ब्रंटन का ऐसा ही मत है। वह लिखते हैं कि—When

prayer produces an after-feeling of relief or peace, it is probably a sign that man has prayed alright. सच्ची प्रार्थना हमें अनिष्टकारी मनोरथों के पीछे उद्विग्न होने से बचाती है जो कि प्रार्थना का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी पहलू है।

प्रार्थना और पाप—

कुछ लोग प्रार्थना प्रायश्चित आदि से पाप क्षमा होने की बात कहा करते हैं किन्तु यह सत्य न्याय एवं वेदशास्त्र के विरुद्ध बात है। सिद्धान्त यह है कि कृत कर्म का फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता। कहा भी है—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं।" और "अवश्यमेव कर्माणि भोक्तव्यानीति निश्चयः।" महर्षि दयानन्द सरस्वती का कथन है कि "पाप पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं मिलता अर्थात पापों को भोगना ही पड़ेगा।" (उपदेश मंजरी) सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास में भी महर्षि अपने इसी मत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि—जो पाप छूट जाते हों तो दरिद्रों के धन, राजपाट (और) अन्धों को आँख मिल जाती, कोढ़ियों का रोग छूट जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए पाप-पुण्य किसी का नहीं छूटता।" सत्य तो यह है कि पापों से छूटने के लिये प्रार्थना का सहारा लेना ही प्रार्थना का दुरुपयोग है। डा० राम चरण महेन्द्र ठीक ही लिखते हैं कि—"साधारण लोग समझते हैं कि प्रार्थना का अभिनय कर परम पिता परमात्मा को फुसला सकते हैं। बच्चों की तरह मीठी-मीठी बातें करके उस परम चतुर सत्ता को लुभा सकते हैं। यह दृष्टिकोण गलत है।" महर्षि तो सुस्पष्ट शब्दों में उद्घोष कर रहे हैं कि—"यह भी जानना कि किसी का किया हुआ पाप भोग के बिना निवृत्त नहीं

मन्तव्य प्रकाश में सुस्पष्ट शब्दों में उद्घोषित कर रहे हैं कि होता और इसके निवारण के लिये कुछ परमेश्वर की प्रार्थना व अपना पुरुषार्थ करना भी योग्य नहीं है किन्तु यह तो है कि जो कर्म जीव वर्तमान में करता व करेगा उसकी निवृत्ति के लिये तो परमेश्वर की प्रार्थना वा उपदेश भी होता है।" (ऋ १-२४-६) इतना ही नहीं महर्षि तो यहाँ तक लिखते हैं कि—"किये हुये पापों को क्षमा करना, जानों पापों का करने को देके बढ़ाना है। पाप क्षमा करने की बात जिस पुस्तक में हो, वह न ईश्वर और न किसी विद्वान का बनाया हुआ किन्तु पाप वर्द्धक है। हाँ ! आगामी पाप छुड़ाने के लिये किसी से प्रार्थना और स्वयं छोड़ने के लिये पुरुषार्थ–पश्चाताप करना उचित है परन्तु केवल पश्चाताप करता रहे और पाप छोड़े नहीं, तो भी कुछ नहीं हो सकता।" वस्तुतः पाप के फल से नहीं पाप वासना से छूटने के लिये प्रार्थना प्रायश्चित आदि के उपयोग का विधान है। न्याय का तकाज़ा है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके प्रत्येक अच्छे बुरे कर्म का पूरा-पूरा (Measure to Measure) फल दिया जाये। यदि ईश्वर पापी को दण्ड न देकर क्षमा कर दे तो अन्यायकारी ठहरता है। महर्षि के शब्दों में "जब प्रत्येक जीव को कर्मों का पूरा-पूरा फल दिया जायेगा, तो क्षमा नहीं किया जायेगा और जो क्षमा किया जायेगा तो पूरा-पूरा फल नहीं दिया जायेगा और अन्याय होगा।' का स्वभाव ही न्याय है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि फिर ऐसा ईश्वर दयालु कैसे माना जा सकता है। प्रत्युत्तर में हमारा निवेदन है कि न्याय और दया दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। न्याय कर्मों की अपेक्षा रखता है जबकि दया दयालु अपनी ओर से करता है। न्याय और दया के सिद्धान्त को न समझ कर ही लोग आज उलझनों में फंसे हुये हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह न्याय को उतना पसन्द नहीं करता जितना दया को विशेष रूप से जबकि वह स्वयं दोषी

हो और उसे यह पता हो कि न्यायतः उसे दण्ड ही मिलेगा तो फिर वह न्याय को क्यों चाहने लगा। अतः वह उसकी दया को ही अधिक चाहता है और दयालुता भी इसी में समझता है कि उसके पाप क्षमा कर दिये जावें। वह तो उसकी क्षमाशीलता पर इतना भरोसा करने लग जाता है कि बड़े गर्व के साथ कह उठता है कि— "हाँ ! हाँ ! गुनाह किये हैं तेरी रहमत के जोर पर।" वह यह मानता है कि—

"बन्दा नवाजियों से खुदा इक करीम था।
करता न मैं गुनाह तो यह गुनाहे अजीम था॥

अर्थात क्षमा करने से ही तो परमात्मा दयालु प्रसिद्ध है तो फिर उसकी क्षमाशीलता को सार्थक करने के लिये पाप कर्म न करने भी भयंकरतम पाप है। किन्तु ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि यदि यह सिद्धान्त सत्य मान लिया जाये तो फिर पुण्य कर्म में किसी की भी प्रवृत्ति न रहे क्योंकि—

"जब गुनाहगारों पे देखी रहमते परवरदिगार,
तो बेगुनाहों ने पुकारा, हम गुनाहगारों में हैं।

इस प्रकार पाप क्षमा होने से संसार में सर्वत्र पापों की वृद्धि होती दिखाई देगी। सत्य तो यह है कि पाप कर्म के फल में न्यायतः दण्ड न देने का नाम दया समझना ही मूल की भूल है। दया का अर्थ पाप को क्षमा करना नहीं वरन पापी को ठीक-ठीक दण्ड देना है। (विस्तार के लिये लेखक की पुस्तक कर्मफल प्रश्नोत्तरी देखें)

प्रार्थना से भी पाप न क्षमा होने पर कुछ लोग कह देते हैं कि ऐसे तो प्रार्थना से पाप ही प्रबल हुये। वस्तुतः बात यह नहीं। प्रार्थना से पाप किसी भी दशा में प्रबल नहीं हो सकते। हाँ-प्रार्थना से प्रभु की न्याय व्यवस्था अवश्य प्रबल है। और सच पूछिये तो

न्यायकारी प्रभु की कर्म फल व्यवस्था में सच्ची आस्था रखने वाला व्यक्ति पापों के फलभोग से बचने की प्रार्थना कभी करता ही नहीं। वह तो प्रभु से पापमय जीवन से उबरने एवं आगे को पाप न करने की प्रार्थना करता है। वह तो यही कहता है कि—

"जहाँ भूलेंबशा, जिस जगह बहक जायें हिदायत कर।
जो हो लग़ज़िश तो हमको थाम ले हमारा मेहरबां होकर॥

पापमय जीवन से ही उबरने के लिये तो महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की प्रार्थना करने का विधान किया है। यथा—"सब मनुष्यों को परमेश्वर की प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर! आप कृपा कर के अधर्म मार्ग से हम लोगों को अलगकर धर्म मार्ग में नित्य चलाइये।" (ऋ १-४२-७) जैसा कि महर्षि की मान्यता है कि—"प्रार्थना से पश्चाताप होता है एवं आगे को पाप वासना का बल घट जाता है।" (पूना प्रवचन)

यहाँ एक और बात का भी उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। वह यह कि प्रार्थना करते हुये पापों का फल भोगना भी प्रायः बहुत सरल हो जाता है। क्योंकि प्रार्थना उसकी प्रसुप्त आत्मिक शक्ति को जागृत कर उसकी आत्मा को इतना ऊँचा उठा देती है कि वह बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी घबराता नहीं और प्रभु की व्यवस्था समझ उसे हंसते-हंसते शिरोधार्य करता है। वह यही गुनगुनाता है कि—

"मुश्किल पड़ी तो क्या हुआ, मुश्किल कुशा तो है।
सिर पर पड़ी तो क्या हुआ, सिर पर खुदा तो है॥"

वह तो यही कहता है कि—

"दु:ख में न हार मानूं, सुख में तुझे न भूलूं,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।"

अतः यह कथन कि प्रार्थना से पाप प्रबल है यथार्थ नहीं। पाप क्षमा होने की बात असम्भव है और असम्भव बातों के लिए प्रार्थना करने का निषेद्ध है। विवेकपूर्ण प्रार्थना करने का इसीलिये तो विधान किया गया है।

प्रार्थना (पुरुषार्थ) और प्रारब्ध—

न्यायकारी परमेश्वर की अटल कर्मफल-व्यवस्था का प्राबल्य सिद्ध करते हुये जब हम प्रार्थना आदि से भी पाप क्षमा न होने की बात कहते हैं तो कुछ मित्रगण हताश एवं निराश से होकर प्रार्थना की उपयोगिता में ही सन्देह व्यक्त करने लग जाते हैं और ऐसा कहने लगते हैं कि कृत कर्म का फल अवश्य मिलने से हमारे भाग्य अथवा प्रारब्ध की प्रार्थना से प्रबलता स्वयं सिद्ध है। अतः पाप क्षमा न होने से वर्तमान जीवन में पापों से उबरने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। क्योंकि जब प्रारब्ध का हमारे ऊपर आधिपत्य रहेगा तो पापी जन इस जन्म में ऊबर ही कैसे सकते हैं? प्रत्युत्तर में हमारा निवेदन है कि प्रार्थना से पाप क्षमा न होने पर भी हम **प्रारब्ध की प्रार्थना से प्रबलता कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। हमारी भलीभाँति सोची समझी सुदृढ़ मान्यता है कि प्रारब्ध किसी भी दशा में प्रार्थना से सबल नहीं हो सकता।** ऐसा क्यों? इसलिए कि जैसा कि हम पूर्व भी लिख आये हैं कि प्रार्थना कर्म अथवा पुरुषार्थ की द्योतक है। प्रार्थना का तात्पर्य ही उद्योग अथवा उपाय करना है न कि हाथ पर हाथ धर कर पुकारें लगाते रहना। और फिर जैसा कि महर्षि दयानन्द की भी मान्यता है कि अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी योग्य होती है, तो फिर प्रार्थना भी पुरुषार्थ ही ठहरी और पुरुषार्थ सदा प्रारब्ध से प्रबल ही माना गया है। महर्षि दयानन्द स्वमन्तव्या-

मन्तव्य प्रकाश में सुस्पष्ट शब्दों में उद्घोषित कर रहे हैं कि "पुरुषार्थ प्रारब्ध से वड़ा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते हैं, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके विगड़ने से सब विगड़ते हैं, इसीलिये प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।" सच पूछिये तो जिसे हम भाग्य या प्रारब्ध कहा करते हैं, उसके भी तो निर्माता हम स्वयं ही हैं। हमारे अपने ही कर्म जब फलोन्मुख होने लगते हैं तो उसी को प्रारब्ध या भाग्य की संज्ञा दे दी जाती है। महात्मा नारायण स्वामी विद्यार्थी जीवन रहस्य पृष्ठ ४० मे इस विषय को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि "मनुष्य जब कर्म करता है और जब तक कर्म फल देने योग्य नहीं हो जाता तब तक कर्म की पहली हालत रहती है और इस रूप वाले कर्म को क्रियमाण कहते हैं और जब कर्म पूरा होकर फल देने योग्य होकर किये हुये कर्मों के भण्डार में जमा हो जाता है तव उसे संचित कहने लगते हैं। और उन्हीं संचित कर्मों में से जिस कर्म का फल मिलने लगता है उसी को प्रारब्ध कहने लगते हैं। अतः स्पष्ट हो गया कि प्रारब्ध मनुष्य के किये हुये कर्म ही के अनुरूप होता है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहीं से लिख लिखा कर मनुष्य के सिर थोपी जाती हो। प्रारब्ध बनाने वाले अपने कर्म ही होते हैं।" अतः सिद्ध है कि यह कर्म ही हैं जो हमारे भाग्य के निर्माता हैं और उन कर्मों के कर्त्ता हम स्वयं हैं। अतः हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हुए। हमें यह भी सोचना चाहिये कि जब वैदिक सिद्धान्तानुसार प्रत्येक कर्म का पूरा-पूरा फल दिया जाना अनिवार्य है और प्रार्थना भी एक कर्म ही है, तो फिर प्रार्थना रूपी कर्म का फल क्यों नहीं मिलेगा ? पाप क्षमा न होने पर भी प्रार्थना-रूपी कर्म का फल भी तो मिलेगा ही। फिर प्रार्थना क्यों न की जाये ? और यह कैसे मान लिया जाये कि उसकी कोई उपयोगिता नहीं है ? महर्षि तो

यहाँ तक लिख रहे हैं कि 'ईश्वर की प्रार्थना और अपने पुरुषार्थ के बिना किसी को शरीर इन्द्रिय और आत्मा का परिपूर्ण सुख नहीं होता इससे उसका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।"

(ऋ १-८६-६)

प्रार्थना हमारे प्रारब्ध को किस प्रकार प्रभावित करती है, यह भी जान लेना चाहिये। यह ठीक है कि पूर्वकृत कर्मों से बने भाग्य अथवा प्रारब्ध को भोगे बिना छुटकारा नहीं, किन्तु यह भी सत्य है कि जब तीव्र संवेग से प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है तो उसका तुरन्त ही नवीन प्रारब्ध बनकर फलोन्मुख प्रारब्ध के बीच अथवा उसके आगे आकर खड़ा हो जाता है। महर्षि दयानन्द की ऐसी ही मान्यता है। बरेली में हुये पादरी स्काट से पुनर्जन्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ में महर्षि ने स्पष्ट कहा था कि जैसे-जैसे जीव "क्रियमाण कर्म नये-नये करता जाता है, उनका संचित और प्रारब्ध भी नया-नया होता चला जाता है।" (देखें दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह पृष्ठ १७३) हां महर्षि स्पष्ट शब्दों में नवीन प्रारब्ध की बात स्वीकार रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो केवल यही कह सकते थे कि संचित भी नया-नया होता चला जाता है। यहां मूलतः वही दार्शनिक प्रश्न आ खड़ा होता है कि क्या हम अपने भोगों में कोई परिवर्तन कर सकते हैं या नहीं ? हमारी ही नहीं आर्य दार्शनिक पण्डित गंगा प्रसाद उपाध्याय की भी ऐसी ही मान्यता है कि हम चाहें तो कर सकते हैं। इतना ही नहीं उपाध्याय जो तो इससे भी एक पग आगे बढ़ कर कहते हैं कि "अवश्य कर सकते हैं और करते रहते हैं।" (कर्मफल सिद्धान्त पृष्ठ ७०) तीव्र संवेग से किये गये प्रबल कर्मों द्वारा निर्मित नवीन प्रारब्ध पूर्व प्रारब्ध का विरोध करता है और दोनों का फल अलग-अलग मिलने पर भी कर्त्ता उनके दुष्प्रभाव से प्रायः बच जाया करता है। यह तो हम कह ही नहीं

सकते कि उनका अलग-अलग प्रभाव नहीं हुआ किन्तु एक ही समय में एक ही साथ परस्पर विरोधी प्रभाव होने से उन दोनों की तीव्रता में कमी आ जाना स्वाभाविक ही है। आप विचारें तो सही कि पुरस्कार में प्राप्त राशि को जुर्माना में अदा कर देने से क्या कोई यह कह सकता है कि उस व्यक्ति को पुरुस्कार नहीं दिया गया या उससे जुर्माना नहीं लिया गया। यह तो निश्चित है कि चाहे कितनी ही प्रार्थना क्यों न की जाये, कृत कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। किन्तु जैसे कुपथ्य कर लेने के पश्चात उपवास तथा औषध आदि के सेवन से हम उस कुपथ्यजन्य दुष्प्रभाव की भीषणता को भले ही कुछ कम करने में सफल हो जावें किन्तु यह किसी भी दशा में नहीं कह सकते कि उस कुपथ्य का हम पर कोई प्रभाव ही नहीं हुआ। और न ही हम यह कह सकते हैं कि उपवास आदि नवीन कर्मों तथा औषध आदि का हम पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। औषध सेवन तथा पथ्य पूर्व कुपथ्य रूपी कर्म के विरोध में होने से उसके प्रभाव को यदि कम करने में सफल हो सकते हैं तो फिर प्रार्थना प्रायश्चित आदि सुकर्म जो पाप कर्म के विरोध में किये जाते हैं, पापों के दुष्प्रभाव को कम करने में सफल क्यों नहीं होंगे ? (विस्तार के लिए लेखक की पुस्तक कर्मफल प्रश्नोत्तरी देखें) अतः यह समझना कि प्रार्थना आदि द्वारा पाप क्षमा न होने पर प्रार्थना से प्रारब्ध प्रवल है, एक भूल ही कही जायेगी।

जहाँ तक प्रार्थना की उपयोगिता एवं व्यक्ति के इस जन्म में पापों से उवरने का प्रश्न है। हमें यही कहना है कि पाप क्षमा न होने पर भी प्रार्थना की अपनी विशेष उपयोगिता है एवं इस जन्म में भी पापों से ऊवरने में यह प्रवल सहायक ही सिद्ध होती है। महर्षि पूना प्रवचन में कहते हैं कि "प्रार्थना से पश्चाताप होता है

एवं अगों को पाप वासना का बल घट जाता है।" क्या पापमय

जीवन से ऊबरने का इससे बढ़कर कोई अन्य प्रमाण हो सकता है। फिर भी यदि एक बार को यह भी मान लिया जाये कि पुरुषार्थ की अपेक्षा प्रारब्ध किसी विशेष अवस्था में प्रबल बैठ रहा है तो भी प्रार्थना की उपयोगिता किसी प्रकार भी कम नहीं हो सकती। क्योंकि जैसा कि पूर्व भी लिख आये हैं प्रार्थना हमारे आत्मिक बल को इतना बढ़ा देती है कि सम्मुख आई घोरतम विपत्ति को भी व्यक्ति हंसते-हंसते सहन कर जाता है। भले ही वह विपत्ति प्रारब्ध जन्य हो या अन्य किसी कारण से। प्रार्थना द्वारा व्यक्ति उस विपत्ति का सामना करने का साहस बटोर लेता है। तभी तो भक्त प्रार्थना करता है कि—

दु:ख में न हार मानूं, सुख में तुझे न भूलूँ,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।

यहाँ एक बात और भी समझ लेनी आवश्यक है। वह यह कि प्रार्थना-पुरुषार्थमय जीवन व्यतीत करते हुए भी यदि हमारे ऊपर विपत्तियों के पहाड़ टूट रहे हैं, तो यदि यह सत्कर्म भी न किये गये होते तो हमारी क्या दशा होती ? हमारा सुदृढ़ मत है कि प्रार्थना परायण व्यक्ति विपत्तियों से घबराता नहीं। वह उसमें अपने प्यारे प्रभु की कर्मफल व्यवस्था के दर्शन करता हुआ उसे शिरोधार्य करता है। वह कृत पापों के फल भोग से बचने की प्रार्थना नहीं करता। वह तो यही कहता है कि प्रभु ऐसी कृपा करो कि फिर ऐसे पाप न करूँ।

प्रार्थना और प्रायश्चित—

प्रार्थना और प्रायश्चित दो भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं। इनमें जो सूक्ष्म भेद है वह समझ लेना आवश्यक है। प्रायश्चित किसी कृत कर्म के विरोध में पश्चाताप स्वरूप किया जाता है। अर्थात प्रायश्चित तभी किया जाता है जवकि कर्म किया जा चुका हो और उस कर्म पर कर्त्ता को पश्चाताप हो। जब कर्म ऐसा शुभ हो कि जिस पर व्यक्ति को पश्चाताप न हो तो प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं रहती। तात्पर्य यह कि प्रायश्चित सभी कर्मों के लिये नहीं किया जाता। केवल उन्हीं कर्मों के विरोध में किया जाता है जिन्हें व्यक्ति करके पछताता है। किन्तु प्रार्थना की वात इससे सर्वथा भिन्न है। प्रार्थना कर्म करने से पूर्व भी की जा सकती है एवं कर्म कर चुकने के पश्चात् भी। अतः प्रार्थना को यदि पथ्य कहें तो प्रायश्चित को औषधि कहना होगा। पथ्य रोगी-निरोगी दोनों के लिये आवश्यक है किन्तु औषधि केवल रोगी के लिये होती है। जिस व्यक्ति ने कोई भी पाप कर्म न किया हो, उसके लिए प्रायश्चित की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु प्रार्थना उसके लिये भी आवश्यक है। अतः प्रार्थना का महत्व प्रायश्चित की अपेक्षा कहीं अधिक है। और प्रायश्चित केवल पाप कर्मों के विरोध में होता है पुण्य के नहीं, पर प्रार्थना पाप कर्मों के विरोध में एव पुण्य कर्मों के विधान के लिये की जाती है। अर्थात प्रार्थना के लिये प्रायश्चित की भाँति कर्मों के हो चुकने के पश्चात् तथा कृत कर्मों के विरोध में में किये जाने की शर्त नहीं। प्रार्थना कर्म करने से पूर्व इसलिए की जाती है कि हमारा कर्म पूर्णता को प्राप्त हो और कर्म कर चुकने के पश्चात् इसलिये कि कर्म के पूर्ण हो जाने पर हमारे मन में अहंकार के भाव न जगें। प्रायश्चित पाप के विरोध में किया

जाता है जबकि प्रार्थना दोनों पाप के विरोध तथा पुण्य की प्राप्ति

के लिये की जाती है। अतः प्रार्थना अवश्यमेव करणीय है। यहाँ हम एक बात और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं, वह यह कि प्रायश्चित पर प्रार्थना की श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुये भी हम प्रायश्चित का अवमूल्यन नहीं कर सकते। हमारा विश्वास है कि प्रायश्चित पाप-वासना की निवृत्ति का एक अनुपम एवं अचूक साधन है। क्योंकि इसमें कृत पापों पर पश्चाताप तथा आगे को वैसा न करने का संकल्प लेना होता हैं। किसी विद्वान का कथन है कि—True repentance has a double aspect, it looks upon the past with a weeping eye and upon the future with a watchful eye. अर्थात् यथार्थ प्रायश्चित के दो कार्य हैं। एक यह कि यह भूतकाल पर अश्रुपात करता है और दूसरा यह कि भावी कर्मों पर सावधानी की दृष्टि रखता है। ताकि भूतकाल में किये गये पापों की पुनरावृत्ति न हो। प्रत्येक सकाम कर्म एक वासना को जन्म देता है जो पुनः वैसा कर्म करने को प्रेरित किया करती है। प्रायश्चित कर्म की इस वासना पर प्रहार करता है जिससे वह वासना मर जाती है एवं मनुष्य भविष्य में वैसा कर्म करने से बच जाता है। पश्चाताप से पाप वासना के बल के घट जाने की बात महर्षि के शब्दों में हम पूर्व ही लिख चुके हैं। अतः प्रायश्चित की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। मनीषियों ने प्रायश्चित को उन्नत जीवन बनाने में बड़ा सहायक माना है। इस पर भी प्रार्थना की बात तो कुछ और ही है। प्रार्थना परायण व्यक्ति के कर्मों में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि उसे अपने किये पर पछताना नहीं पड़ता। क्योंकि प्रभु पवित्र है उसका ध्यान पवित्र करने वाला है। जब अन्तःकरण पवित्र हो जाता है तो संकल्प-विकल्प तथा कर्मों में भी पवित्रता

आने लगती है। उसका विवेक जागृत हो जाने से वह कर्मों को सोच-समझ कर करता है। उसकी वासना पर विवेक का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। ऐसी स्थिति में फिर प्रायश्चित की आवश्यकता ही नहीं रहती। किन्तु जैसा कि पूर्व भी लिख आये हैं कि मनुष्य में एक ऐसी बुराई है जो सदा अच्छाइयों में ही पनपती है और वह है अहंकार। कहीं कर्मों की पूर्णता हमारे मन में अहंकार को न उत्पन्न कर दे एवं हम पथभ्रष्ट न हो जायें, इसलिये शुभ कर्मों के सम्पादन करने पर भी मनुष्य के लिए प्रार्थना की आवश्यकता बनी रहती है। फिर कर्मों की पूर्णता को प्राप्त हो जाने पर उन कर्मों में सहायक प्रभु का धन्यवाद भी तो देना आवश्यक होता है। अतः प्रार्थना का किसी भी दशा में छोड़ा नहीं जा सकता। पग-पग पर हमारी परीक्षा है। प्रार्थना के सहारे पुरुषार्थ करते हुए हम उन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करते चले जाते हैं। महात्मा गाँधी ठीक ही कहते हैं कि "प्रार्थना मेरी जीवन जड़ी है। यदि प्रार्थना का सहारा न होता तो मैं कब का पागल हो गया होता।" महात्मा गाँधी तो यहाँ तक कहते हैं कि "जैसे शरीर के लिये अन्न अनिवार्य है वैसे ही आत्मा के लिये प्रार्थना अनिवार्य है। असल में शरीर के लिये अन्न इतना जरूरी नहीं, जितनी आत्मा के लिये प्रार्थना है क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिये निराहार रहना अकसर जरुरी होता है, परन्तु प्रार्थना का उपवास तो हो ही नहीं सकता। प्रार्थना में सम्भवतः कभी अति हो ही नहीं सकती।" एक अन्य स्थान पर गाँधी जी लिखते हैं—"राजनीतिक क्षितिज पर मेरे सामने निराशा छाई रहने पर भी मैंने कभी अपनी शान्ति नहीं खोई। सच तो यह है कि मेरी शान्ति से ईर्ष्या करने वाले लोग मैने देखे हैं। मैं कहता हूँ कि वह शान्ति प्रार्थना से आती है। मैं विद्वान आदमी नहीं हूँ, परन्तु मैं प्रार्थना परायण होने का नम्रता-

पूर्वक दावा करता हूँ।" इतने पर ही बस नहीं महात्मा जी ने तो इससे भी बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि "जो मनुष्य प्रार्थनापूर्ण हृदय के बिना सांसारिक कर्म करेगा, वह स्वयं भी दुःखी होगा और संसार को भी दुःखी करेगा।" वस्तुतः प्रार्थना वह कुंजी है जिसके द्वारा स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष के द्वार खुल जाते हैं। इस प्रकार हम यही कहेंगे कि प्रायश्चित और प्रार्थना का अपना-अपना विशेष महत्व है। मानव जीवन को उन्नत बनाने के लिये इन दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। प्रार्थनापूर्ण हृदय से कार्य करने से मनुष्य को पछताना नहीं पड़ता और प्रायश्चित की आवश्यकता ही नहीं रहती। किन्तु यदि व्यक्ति कोई पाप कर्म कर ही बैठा है तो उसके लिये प्रायश्चित करना आवश्यक होता है ताकि पुनः वैसा कर्म करने की वासना न जगे। यही प्रार्थना और प्रायश्चित का महत्व है।



दो निरर्थक आक्षेप

क्या प्रार्थना मनुष्य कोआलसी बनाती है—

प्राय: यह कहा जाता है कि प्रार्थना मनुष्य को आलसी वना डालती है। और इसकी पुष्टि में कुछ लोग निम्न वातें भी कह दिया करते हैं—एक तो यह कि जव सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर पर यवनों ने आक्रमण किया था तो भक्तजन प्रतिशोध करने की अपेक्षा हाथ बांध प्रार्थना में लग गये और मन्दिर लुट गया। दूसरे यह कि—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम।"

हमारा सुनिश्चित मत है कि ऐसा कहने वाले न तो प्रार्थना का अभिप्राय ही समझते हैं न उद्देश्य ही। प्रार्थना तो पूर्ण पुरुषार्थ के अनन्तर ही किसी सामर्थ्यवान से सहायता की इच्छा करने का नाम है। बिना उद्योग अथवा पुरुषार्थ किये न तो प्रार्थना की जाने योग्य है और न ही ऐसी दशा में कोई सहायता भी देता है। हम तो प्रार्थना को पुरुषार्थ का ही पर्याय मानते हैं। अत: यह कहना कि प्रार्थना करने वाला आलसी हो जाता है यथार्थ नहीं। प्रार्थना परायण महापुरुषों के जीवन इसमें प्रमाण हैं। आधुनिक युग में भी महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी जैसे प्रार्थना परायण व्यक्ति जितने क्रियाशील रहे उतना कोई अन्य नहीं रहा। और फिर

प्रार्थना भी तो विना पुरुषार्थ के नहीं होती। इस सम्वन्ध में महर्षि

दयानन्द का कथन है कि "मनुष्य में प्रार्थना की वृत्ति स्वाभाविक है। जैसे आप में खाने, पीने और सोने की वृत्ति तो विद्यमान हैं, परन्तु परितृप्ति प्राप्त करने के लिये, आप उस वृत्ति को जगाते हैं। ऐसे ही प्रार्थना रूप भक्तिवृत्ति को जगाने की आवश्यकता है।" (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश पृष्ठ ३६१) पुरुषार्थी की ही सब सहायता करते हैं, आलसी की कोई नहीं। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। एक लकड़हारा परिश्रम पूर्वक जंगल से लकड़ी काटकर उसका एक गट्ठर बनाता है और वह उसे अपने सर पर रख कर बाजार ले जाना चाहता है। किन्तु भारी बोझ को वह विना किसी की सहायता के अपने सिर पर स्वयं रखने में असमर्थ है। ऐसी दशा में वह किसी राह चलते व्यक्ति से प्रार्थना करता है कि "भाई ! जरा हाथ लगा दो।" ऐसी प्रार्थना कर वह स्वयं निठला अथवा निष्क्रिय नहीं बन जाता। वह अपना पूरा जोर लगाता है, दूसरे से तो वह थोड़े से सहारे की अपेक्षा करता है। यही प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य है। यदि वह हाथ बाँध कर खड़ा हो जाता और राह चलते लोगों से यह कहता कि "भाई ! ज़रा यह गट्ठर उठा कर मेरे सिर पर रख दो।" तो क्या कोई उसकी सहायता करता ? कदापि नहीं। ईश्वर भी पुरुषार्थी की ही सहायता करता है आलसी की नहीं। कहा भी है—God helps those, who help themselves अतः यह कहना यथार्थ नहीं कि प्रार्थना आलसी बना देती है।

अब रही बात दूसरे आक्षेप की—यह ठीक है कि प्रभु प्राणी-मात्र के अन्नदाता हैं। किन्तु सोचें तो सही कि क्या वह प्रत्येक के मुख में अन्न डाल जाता है ? पक्षियों को भी तो चुगा चुगने के लिये कुछ न कुछ तो पुरुषार्थ करना ही होता है। फिर मनुष्य तो

पुरुष इसीलिए है कि वह पुरुषार्थ करे। सत्य तो यह है कि प्रार्थना का आलस्य से पुराना बैर है। आलसी की प्रार्थना कभी भी फलवंती नहीं होती। डा० स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती ठीक ही लिखते हैं कि—"A prayer, if meant to be fulfilled, must have a follow up programme, a prayer is not an end of one's duty, it is just a begining.... .....A prayer is meant to make you dynamic and not static (Man and his religion, page 67) अर्थात् यदि प्रार्थना पूर्ण होने के लिये की गई है तो उसकी पुष्टि पुरुषार्थ से करनी अनिवार्य है क्योंकि यह हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं अपितु प्रारम्भ है। प्रार्थना मनुष्य को गतिशील अथवा सक्रिय बनाने के लिये है निष्क्रिय बनाने के लिये नहीं।

क्या प्रार्थना हीन भाव जगाती है—

एक आक्षेप यह किया जाता है कि प्रार्थना से मनुष्य के हृदय में हीन भाव उत्पन्न होने लग जाते हैं। किन्तु इसमें भी प्रार्थना का यथार्थ मूल्यांकन नहीं। यह ठीक है कि याचना करने से मन में हीन भाव जगते हैं किन्तु प्रार्थना करना याचना करना तो नहीं। यह तो चाहना है, उत्कट अभिलाषा है। इसमें "प्र" उपसर्ग इसी प्रकर्षता का ही द्योतक है। "प्रार्थना मनोविज्ञान की दृष्टि में" प्रकरण में हम इस तथ्य को दर्शा चुके हैं कि प्रार्थना संकल्प-बल अथवा इच्छा-शक्ति को जागृत करती है न कि हीन भावों को। प्रार्थना हमारे अन्तःकरण को शुद्ध एवं क्रियाशील बनाती है। मनुष्य की इच्छाशक्ति उसकी अन्तःकरण की एक वृत्ति है जो कि अन्तःकरण के अनुकूल काम करने से पुष्ट हुआ करती है। प्रार्थना

अन्तःकरण के अनुकूल काम है। अतः इससे इच्छाशक्ति प्रबल होनी स्वाभाविक है। यदि हम निष्क्रिय होकर भिखारियों की तरह गिड़गिड़ायेंगे तो हमारे मन में हीन भाव उठने स्वाभाविक हैं किन्तु यदि प्रार्थना पूर्ण पुरुषार्थ की जायेगी तो फिर हीन भाव क्यों उठेंगे ? प्रार्थना करना याचना करना नहीं, वह तो आत्मा की पुकार है, एक उत्कृष्ट प्रयोजन है। उत्कृष्ट प्रयोजन कभी भी हीन भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः यह कहना यथार्थ नहीं कि प्रार्थना से हीन भाव उत्पन्न होते हैं।

॥ ओ३म् शम् ॥





समालोचना की कसौटी पर

मुझे आर्यसमाज क्यों प्रिय है ?—श्री यशपाल आर्यबंधु, आर्यसमाज के उदीयमान लेखक हैं; आर्यसमाज की प्रशस्ति में लिखा गया यह विस्तृत निबन्ध इस सार्वभौम आन्दोलन का एक सही मूल्यांकन है। लेखक का विस्तृत अध्ययन और उसकी सारग्रहणी वृत्ति का निदर्शन पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति से होता है। पुस्तक का प्रचार अभीष्ट है।

डा० भवानी लाल भारतीय, परोपकारी अक्तूबर १९७७, पृष्ठ २२)

आर्यसमाज ही क्यों ?—आर्यसमाज जैसे जीवन्त, प्रगतिशील तथा लोकप्रिय आन्दोलन का मूल्यांकन करते हुये श्री यशपाल आर्यबन्धु ने जो पुस्तकें लिखी हैं, उनमें आलोच्य पुस्तक का विशिष्ट स्थान है। रूढ़िगत चिन्तन से हटकर लेखक ने तत्कालीन सुधारवादी पुनर्जागरण के अन्य आन्दोलनों के संदर्भ में आर्यसमाज के वैशिष्ट्य को निरुपित करने का सराहनीय प्रयास किया है। खेद है कि आज आर्यसमाज के अधिकांश नेता भी आर्यसमाज आन्दोलन की सार्वभौमिकता और सार्वजनीनता को विस्मृत कर उसे हिन्दूधर्म के रक्षक और हिन्दूजाति के हितैषी के रूप में प्रस्तुत करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं। तब आर्यसमाज को सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करना तथा ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफी आदि से उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना श्री आर्यबन्धु के लेखन की विशिष्टत ही कही जायगी। नाना प्रासंगिक ग्रंथों के बहुशः उद्धरण लेखक के विस्तृत अध्ययन के परिचायक हैं।

डा० भवानी लाल भारतीय, परोपकारी दिसम्बर-जनवरी, १९७८-७९, पृष्ठ ४४)

मानव निर्माण और आर्यसमाज—आर्यसमाज वड़ा बाजार, कलकत्ता द्वारा आयोजित एक निबन्ध प्रतियोगिता में पुरस्कृत इस निबन्ध को लेखक ने परिवर्द्धित किया है। लेखक का विवेचन मार्मिक है तथा वह मानव निर्माण में आर्यसमाज के योगदान को स्पष्ट करने में सफल हुआ है। आर्यसमाज के लक्ष्यों, उद्देश्यों और कार्यों को लेकर आज भी प्रबुद्ध समाज में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। यदि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रसार किया जाये तो निश्चय ही आर्यसमाज के वास्तविक रूप तथा मानव निर्माण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका से लोग परिचित हो सकेंगे।

डा० भवानीलाल भारतीय, परोपकारी दिसम्बर-जनवरी ७७-७८ पृष्ठ ३७)

सत्यार्थ प्रकाश दिग्दर्शन—सत्यार्थ प्रकाश लेखन शताब्दी के उपलक्ष्य में ऋषि दयानन्द के इस महान् ग्रन्थ का परिचय कराते हुये अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। श्री यशपाल आर्य बन्धु आर्यसमाज के विचारशील, प्रबुद्ध तथा स्वाध्यायशील लेखक हैं। आलोच्य पुस्तक में सत्यार्थ प्रकाश रचना की पृष्ठभूमि, ग्रन्थलेखन में लेखक का उद्देश्य, खण्डन-मण्डन का औचित्य, ग्रन्थ की लेखन शैली, ग्रन्थ का महत्व, प्रभाव आदि विभिन्न उपयोगी शीर्षकों के अन्तर्गत विषय का सांगोपांग विवेचन किया गया है। सत्यार्थ प्रकाश की आवश्यक जानकारी की दृष्टि से लिखी गई यह पुस्तक व्यापक प्रचार की अपेक्षा रखती है।

डा० भवानीलाल भारतीय, परोपकारी जनवरी १९८०, पृष्ठ २२)

मृत्यु मानव जीवन की एक सुपरिचित किन्तु अत्यन्त अप्रिय कटु तथा पीड़ापूर्ण परिस्थिति है। वैदिक शास्त्रों में मृत्यु के इस भय को अभिनिवेश की संज्ञा दी है तथा उसे योगदर्शन ने पंच क्लेशों में परिगणित किया है। भारतीय तत्व चिन्तन मनुष्य जीवन की समाप्ति को वस्त्र वदलने की संज्ञा देता है। अतः उसमें मृत्यु के भय को समाप्त करने की पूर्ण व्यवस्था भी है। लेखक ने इस दार्शनिक जटिल विषय को अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। यदि आलोच्य पुस्तक किसी मृत व्यक्ति के वन्धु-वान्धव पढ़ें तो उन्हे निश्चय ही आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी। लेखक का परिश्रम प्रशंसनीय है। (परापकारी नवम्बर-दिसम्बर १६७४, पृष्ठ १४)

कर्मफल प्रश्नोत्तरी—

कर्म और उसका फल एक दार्शनिक समस्या है, जिस पर भारतीय चिन्तकों ने विविध दृष्टिकोणों से विचार किया है। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने कर्मफल का सन्तुलित वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन कर उसे भाग्य एवं प्रारब्ध की अन्धकार पूर्ण काराओं से मुक्ति दिलाई है। कर्म एवं पुरुषार्थ को ही स्वामी जी ने मानव जीवन नियामक तत्व घोषित किया है। कर्म सिद्धान्त पर पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय, महात्मा नारायण स्वामी तथा पं० वैद्यनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आलोच्य पुस्तक प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है। इसमें कर्म एवं उसके फल की सूक्ष्म विवेचना दृष्टिगोचर होती है। इस जटिल समस्या को सुगम एवं सुवोध शैली में विवेचित कर लेखक-द्वय ने सराहनीय कार्य किया है। (परोपकारी नवम्बर १६७६ पृष्ठ २४)

आचार्य रमेश चन्द्र, एम.ए; सम्पादक आर्य मित्र, लखनऊ—

श्री यशपाल आर्यबन्धु कर्मठ स्वाध्यायशील आर्य समाजी हैं।

महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं के अनुसार जीवन को ढालने की कला में आप प्रवीण, कुशल वक्ता और उपदेशक हैं। लघु पुस्तिका में आर्य समाज के उज्जवल पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। अमर, कीर्ति, सत्य सिद्धान्त, स्वर्णिम नियम आदि कतिपय शीर्षकों से लेखक ने प्रभावपूर्ण विचारों को प्रस्तुत किया है। पुस्तक उपयोगी है तथा अधिक से अधिक प्रसार ही ऐसी कामना है।

(आर्य मित्र १० सितम्बर १९७८, पृष्ठ ११)

आचार्य पं० सत्यव्रत जी राजेश, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार--

"मृत्यु और उसका भय" पुस्तक देखने को मिली। मृत्यु और परलोक के उपरान्त यह पुस्तक बड़े महत्व की है। इसमें आपका विशद अध्ययन अन्य पुस्तकों की भाँति झलकता है। पुस्तक सन्तप्त समय में शान्तिजल का काम देगी तथा सामान्य अवस्था में व्यक्ति का मार्ग दर्शन करेगी। प्रभु तथा मृत्यु का स्मरण रखने वाला पाप से बच जाया करता है। प्रभु आपको शक्ति दें कि आप इसी प्रकार आर्य समाज रूपी माँ का आँचल मोतियों से भरते रहें तथा उसके मस्तक को कीर्ति से अभिषिक्त करते रहें।

(पत्र दिनांक १७-११-७६)

प्रो० उत्तम चन्द जी 'शरर', पानीपत

'मुझे आर्य समाज क्यों प्रिय है' तथा मानव निर्माण और आर्य समाज', दोनों पुस्तकें प्राप्त हुई। हर्दिक धन्यवाद। आर्य समाज के प्रति आपका प्रेम मेरे लिये अनुकरणीय है, इस पर आपकी विद्वता और विषय सम्बन्धी पैनी पैठ, आर्य समाज के महत्व को पाठक के सम्मुख अंकित कर देती है। सचमुच आर्य समाज की मूल विशेषता 'मानव निर्माण' पर बल देकर आपने स्तुत्य कार्य किया है, इसके लिये आपको हार्दिक बधाई।

'भगवान करे जोरे कलम और ज्यादा।' (पत्र दिनांक १-२-७८)

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियम व उद्देश्य

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथयोग्य वर्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

मुद्रक :—

डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, सब्जी मंडी गंज मुरादाबाद। फोन ३५१४

हमारे प्रकाशन

१. मुझे आर्यसमाज क्यों प्रिय है ? लेखक श्री यश
२. विश्व को आर्यसमाज की देन । ,,
३. मानव निर्माण और आर्यसमाज । ,,
४. आर्यसमाज ही क्यों ? ,,
५. मृत्यु और उसका भय । ,, ,, ,,
६. सुमन सञ्चय ,, ,, ,,
७. सत्यार्थ प्रकाश दिग्दर्शन । ,, ,, ,,
८. प्रार्थना विज्ञान । ,, ,, ,,
९. क्रान्तिदूत दयानन्द । ,, ,, ,,
१०. कर्मफल प्रश्नोत्तरी । ,, ,, ,,
११. प्रभु है भो ? साहित्याचार्य बलदेव अग्निहोत्री

हमारे आगामी प्रकाशन

१. आर्य समाज स्थापना का उद्देश्य । लेखक श्री यशपाल आर्यबन्धु
२. भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन और आर्यसमाज । ,, ,, ,,

सहयोग दीजिये

कृपया आर्यसमाज के साहित्य प्रचार यज्ञ में अपने सहयोग की आहुति डालकर पुण्य के भागी बनें ।

सहयोगाकांक्षी :

रघुनन्दन प्रसाद — प्रधान

महावीर सिंह — मन्त्री

रामाश्रय लाल — कोषाध्यक्ष

आर्यसमाज [illegible] कालोनी, मुरादाबाद ।